विवेक ज्योति
वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
वर्ष ५० अंक १२
दिसम्बर २०१२
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक १२

वार्षिक ६०/- **एक प्रति ८/-**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५० दिसम्बर २०१२ अंक १२

पुरखों की थाती

किं वाससा तत्र विचारणीयम्
वासः प्रधानं खलु योग्यतायाः ।
पीताम्बरं वीक्ष्य ददौ तनूजां
दिगम्बरं वीक्ष्य विषं समुद्रः ।।२२५।।

– ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि 'वस्त्र से क्या होता है?' वस्त्र ही योग्यता का प्रधान अंग है। समुद्र ने भगवान विष्णु का पीताम्बर देखकर उन्हें अपनी पुत्री लक्ष्मी को प्रदान किया, जबकि शिवजी को नंग-धड़ंग देखकर उन्हें विष दे दिया।

किमशक्यं बुद्धिमतां किमसाध्यं निश्चयं दृढदधताम्।
किमशक्यं प्रियवचसां किमलभ्यमिहोद्यमस्थानम्।२६

– बुद्धिमान के लिये कुछ भी असम्भव नहीं, दृढ़-निश्चयी के लिये कुछ भी असाध्य नहीं, मधुरभाषी के लिये कुछ भी अजेय नहीं और उद्यमी लोगों के लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं।

कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ।।२७।।

– फूल का संग करने के फलस्वरूप एक कीड़ा भी सज्जनों के मस्तक पर चढ़ जाता है और महापुरुषों के हाथ से स्थापित पत्थर भी देवता का गौरव प्राप्त करते हैं।

कुचेलिनं दन्त-मलावधारिणं
बह्वाशनं निष्ठुर-वाक्य-भाषिणम् ।
सूर्योदये चास्तमने च शायिनं
विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिनम् ।।२२८।।

– यदि कोई भद्दे वस्त्र पहने रहता हो, दाँतों की सफाई न करता हो, बहुत भोजन करता हो और सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोया करता हो; तो ऐसे व्यक्ति को लक्ष्मीजी त्याग देती हैं, फिर चाहे वे साक्षात् श्रीहरि विष्णु ही क्यों न हों!

कुसुमानां यथा हृद्यं सारं गृह्णाति षट्पदः ।
सारं तथैव गृह्णाति शास्त्राणां खलु पण्डितः ।।२९।।

– जैसे भौंरा फूलों का सार-रूपी मधुर रस ग्रहण कर लेता है, वैसे ही ज्ञानीजन शास्त्रों का सार ग्रहण कर लेते हैं।

कुम्भो हि कूपमपि शोषयितुम न शक्तः ।
कुम्भोद्भवेन मुनिनाम्बुधिरेव पीतः ।।२३०।।

– घड़ा या कुम्भ कुएँ तक को सुखाने में असमर्थ है; पर कुम्भज (घड़े से उत्पन्न) अगस्त्य मुनि पूरा समुद्र ही पी गये।

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेष-दोष-दुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः।।३१।।

– अपना प्रिय व्यक्ति चाहे जितना दुष्कर्म कर डाले, वह हमें उसी प्रकार अच्छा लगता है, जैसे कि असंख्य दोषों से दूषित होकर भी अपना शरीर किसको प्रिय नहीं लगता?

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपार-संवित्सुख-सागरेऽस्मिँ-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ।।२३२।।

– जिस साधक का चित्त अपार चैतन्य-आनन्द-समुद्र रूप परब्रह्म परमात्मा में लीन हो गया, उसका कुल पवित्र हो जाता है, उसकी माता धन्य हो जाती है और पृथ्वी उसे पाकर अपने को सौभाग्यवान मानती है। (स्क.पुरा.मा. ५५.१४०)

कीटिका-संचितं धान्यं मक्षिका-संचितं मधु ।
कृपणेन संचिता लक्ष्मीः अपरैः परि-भुज्यते ।।२३३।

– कीड़ों द्वारा एकत्रित अन्न, मधुमक्खियों द्वारा संग्रहित मधु और कंजूस के द्वारा इकट्ठा किया हुआ धन – ये दूसरों के द्वारा ही उपभोग किये जाते हैं। ❖ (क्रमशः) ❖

सारदा-वन्दन

(राग-भैरवी – ताल-रूपक)

हे भवानी सारदे तुम, विश्व की आधार हो,
ब्रह्म निर्गुण है मगर तुम, गुणमयी साकार हो ।।१।।

कल्प के प्रारम्भ में माँ, सृष्टि करती हो तुम्हीं;
और जब आता समय, संहार भी करती तुम्हीं;
जीव-ममता से द्रवित उर, तुम ही पालनहार हो ।
हे भवानी सारदे तुम, विश्व की आधार हो ।।२।।

जीव सारे चर-अचर औ
अखिल यह ब्रह्माण्ड सारा,
सप्त लोकों तक विराजित
राज्य यह फैला तुम्हारा;
तव कृपा की दृष्टि हो तो
जीव का उद्धार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।३।।

विश्व के निर्माण में तुम
स्वयं आद्या शक्ति हो
जीव के निर्वाण में भी
तुम ही प्रज्ञा-भक्ति हो;
और सब निस्सार जग में
एक तुम ही सार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।४।।

आ गया हूँ मैं शरण में
छोड़ दुनिया के झमेले,
एक निष्ठा तव चरण में
चल रहा पथ में अकेले;
तुम सहारा दो जननि
तत्काल बेड़ा पार हो ।
हे भवानी सारदे तुम,
विश्व की आधार हो ।।५।।

– *विदेह*

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

न्यूयार्क, १८ नवम्बर १८९४ : अन्य किसी चीज की जरूरत नहीं, जरूरत है केवल प्रेम, निश्छलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि अर्थात् विस्तार यानी प्रेम है। इसलिए प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है, और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इहलोक एवं परलोक में यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, वे प्रेत हैं ; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है वह जी भी नहीं सकता। मेरे बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो – गरीब, मूर्ख एवं पददलित मनुष्यों के दुःख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क चकराने न लगे, और तुम्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे – फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो, और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी।

पिछले दस वर्षों से मैंने अपना मूलमंत्र बना रखा है – संघर्ष करते रहो; और अब भी कहता हूँ कि अविराम संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दीखता था, तब मैं कहता था – संघर्ष करते रहो; अब जब थोड़ा-थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ कि संघर्ष करते चलो। डरो मत मेरे बच्चो, अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, जैसे कि वह हमें कुचल ही डालेगा। धैर्य रखो। देखोगे कि कुछ ही घण्टों में वह सब-का-सब तुम्हारे पाँवों तले आ गया है। धैर्य रखो, न धन से काम होता है, न नाम से; न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम से ही सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है। ...

मैं सदैव प्रभु पर निर्भर रहा हूँ, सत्य पर निर्भर रहा हूँ, जो कि दिन के प्रकाश की भाँति उज्ज्वल है। मरते समय मेरी विवेक-बुद्धि पर यह धब्बा न रहे कि मैंने नाम या यश पाने के लिए, यहाँ तक कि परोपकार करने के हेतु भी दुरंगी चालों से काम लिया था।[६२]

कैम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स, ६ दिसम्बर १८९४ : मैंने अपने धन का एक अंश भारत भेज दिया है और शीघ्र ही पूरी राशि को भेजने का विचार कर रहा हूँ। केवल लौटने के लिये आवश्यक राशि को ही यहाँ रखूँगा।[६३]

कैम्ब्रिज, २६ दिसम्बर, १८९४ : (सुनता हूँ कि) मिशनरी पत्रिकाओं में कुछ दिनों के अन्तर से मेरे विषय में दोषारोपण किया जाता है, परन्तु उसे पढ़ने की मुझे कोई इच्छा नहीं है।[६४]

शिकागो, १८९४ : प्रभु की इच्छा से अभी तक नाम-यश की आकांक्षा हृदय में उत्पन्न नहीं हुई है, शायद होगी भी नहीं। मैं यंत्र हूँ, वे यंत्री हैं ! वे इस यंत्र द्वारा इस दूर देश में हजारों हृदयों में धर्मभाव उद्दीप्त कर रहे हैं। हजारों स्त्री-पुरुष मुझसे यहाँ प्रेम एवं श्रद्धा रखते हैं।... मुझे उनकी कृपा पर आश्चर्य है। जिस भी शहर में जाता हूँ, उथल-पुथल मच जाती है। यहाँ वालों ने मेरा नाम रखा है, Cyclonic Hindu (तूफानी हिन्दू)। याद रखना, सब उनकी ही इच्छा से होता है – I am a voice Without a form. (मैं एक निराकार वाणी हूँ)।[६५]

शिकागो, ३ जनवरी १८९५ : इस समय मैं देखता हूँ कि इस देश (अमेरिका) में भी मेरा एक मिशन है। ... मैं कब तक भारत लौटूँगा, इसका मुझे पता नहीं। मैं प्रभु की प्रेरणा का दास हूँ; उन्हीं के हाथ का यंत्र हूँ।[६६]

शिकागो, ३ जनवरी १८९५ : गत रविवार को ब्रुकलिन में मेरा भाषण हुआ। जिस दिन मैं पहुँचा – शाम को श्रीमती हिगिन्स ने स्वागत-सत्कार की छोटी-सी व्यवस्था की थी। जिसमें इथिकल सोसाइटी के कुछ प्रमुख सदस्य – डॉक्टर जेन्स के साथ – उपस्थित थे। उनमें से कुछ लोगों की धारणा थी कि प्राच्य-धर्म सम्बन्धी ऐसे विषय में ब्रुकलिन की जनता दिलचस्पी नहीं लेगी।

परन्तु भगवान की दया से मेरे भाषण को महान् सफलता मिली। उसमें ब्रुकलिन के करीब ८०० श्रेष्ठ जन उपस्थित थे; और जिन महानुभावों को मेरे भाषण की सफलता में शंका थी, अब वे ही ब्रुकलिन में भाषणमाला आयोजित करने की चेष्टा में लगे हैं। ... मैं यहाँ एक नया गाउन बनवाने की कोशिश कर रहा हूँ। पुराना गाउन साथ है। परन्तु बार-बार की धुलाई से सिमट-सिकुड़ कर ऐसा हो गया है कि उसे पहनकर बाहर नहीं निकला जा सकता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि शिकागो में सही चीज मिल जायेगी।[६७]

शिकागो, ११ जनवरी १८९५ : मैं बराबर न्यूयार्क और बोस्टन के बीच यात्रा करता रहा। इस देश के ये ही दो बड़े केन्द्र हैं, जिनमें से बोस्टन को यहाँ का मस्तिष्क कहा जा सकता है और न्यूयार्क को उसका मनीबैग। दोनों स्थानों में मुझे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। मैं समाचार-पत्रों के विवरणों के प्रति उदासीन हूँ, इसलिए तुम मुझसे यह आशा न करो कि उनमें से किसी के विवरण मैं तुम्हें भेजूँगा। काम आरम्भ करने के लिए थोड़े-से शोर की आवश्यकता थी।...

जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो सत्य की शिक्षा देना चाहता हूँ, चाहे वह यहाँ हो या कहीं और। ...

मैं मृत्युपर्यन्त निरन्तर काम करता रहूँगा और मृत्यु के बाद भी संसार की भलाई के लिए काम करता रहूँगा। ...

हजारों श्रेष्ठ लोग मेरा सम्मान करते हैं। ... इस देश में धीरे-धीरे मैं ऐसा प्रभाव डाल रहा हूँ, जो समाचार-पत्रों के लाख ढिंढोरा पीटने से भी नहीं हो सकता था। यहाँ के कट्टरपंथी इसे महसूस करते हैं, परन्तु कुछ कर नहीं सकते। यह है चरित्र का प्रभाव, पवित्रता का प्रभाव, सत्य का प्रभाव और सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव। जब तक ये गुण मुझमें हैं, तब तक तुम्हें चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं; कोई मेरा बाल भी बाँका न कर सकेगा। यदि वे चेष्टा करेंगे, तो भी विफल रहेंगे। ऐसा भगवान ने कहा है। ... दिन-पर-दिन भगवान मेरी अन्तर्दृष्टि को तीव्र से तीव्रतर करते जा रहे हैं।

मुझे इसकी परवाह नहीं है कि यहाँ के लोग हिन्दू हैं या मुसलमान या ईसाई। जो ईश्वर से प्रेम करता है, मैं उसकी सेवा में सदैव तत्पर रहूँगा। ... मुझे चुपचाप शान्ति से काम करना अच्छा लगता है और प्रभु हमेशा मेरे साथ हैं।[६८]

शिकागो, १२ जनवरी १८९५ : इस बात को सदा-सर्वदा के लिए जान लो कि नाम, यश या उस तरह की व्यर्थ की चीजों की मैं बिल्कुल परवाह नहीं करता। संसार के कल्याण के लिए मैं अपने विचारों का प्रचार करना चाहता हूँ।... संसार में मात्र प्रशंसा प्राप्त करने की अपेक्षा मुझे अपने जीवन का मूल्य कहीं अधिक प्रतीत होता है। ऐसे मूर्खतापूर्ण कार्यों के लिए मेरे पास जरा भी समय नहीं है।[६९]

न्यूयार्क, २४ जनवरी १८९५ : मेरे पिछले व्याख्यान की पुरुषों ने बहुत प्रशंसा नहीं की, परन्तु महिलाओं ने उसे आशातीत रूप से पसन्द किया। तुम जानती हो कि ब्रुकलिन स्त्री-अधिकारों के आन्दोलन के प्रतिकूल विचारों का केन्द्र है; और जब मैंने कहा कि स्त्रियाँ योग्य होती हैं और प्रत्येक काम के लिए उपयुक्त हैं, तो निश्चय ही यह लोगों को पसन्द नहीं आया होगा। कोई बात नहीं, स्त्रियाँ तो विभोर थीं।[७०]

न्यूयार्क, १ फरवरी १८९५ : तुम्हारा सुन्दर पत्र मुझे अभी मिला।... कभी-कभी काम के लिए काम करने को विवश हो जाना, यहाँ तक कि अपने परिश्रम के फल के भोग से वंचित भी रह जाना एक अच्छी साधना है।... तुम्हारे आक्षेप से मैं प्रसन्न हूँ और मुझे इसका जरा भी दुख नहीं। अभी उसी दिन श्रीमती थर्सबी के यहाँ एक प्रेसबिटेरियन सज्जन के साथ गर्मागर्म बहस हो गयी थी। सामान्य रीति से उन सज्जन का पारा चढ़ गया और वे क्रोध में आकर दुर्वचन कहने लगे। परन्तु बाद में श्रीमती बुल ने मुझे बहुत झिड़का, क्योंकि इस प्रकार की बातें मेरे काम में बाधा डालती हैं। ऐसा लगता है कि तुम्हारा भी यही मत है।

मुझे प्रसन्नता है कि तुमने इसी समय इस प्रसंग को उठाया, क्योंकि मैं इस पर बहुत विचार करता रहा हूँ। पहली बात तो यह कि मुझे इन बातों का तनिक भी दुःख नहीं है। शायद तुम्हें इससे नाराजी होगी – होने की बात ही है। मैं जानता हूँ कि किसी की भी सांसारिक उन्नति के लिए मधुरता कितना मूल्य रखती है। मैं मधुर बनने का भरसक प्रयत्न करता हूँ, परन्तु जब अन्तस्थ सत्य के साथ विकट समझौता करने का अवसर आता है, तब मैं ठहर जाता हूँ। मैं दीनता में नहीं, समदर्शित्व में विश्वास रखता हूँ – अर्थात् सबके लिए सम-भाव। अपने 'ईश्वर'-स्वरूप समाज की आज्ञा पालन करना साधारण मनुष्यों का धर्म है, लेकिन जो ज्ञान के आलोक से सम्पन्न व्यक्ति हैं, वे ऐसा कभी नहीं करते। यह एक अटल नियम है। व्यक्ति अपनी बाह्य परिस्थितियों तथा सामाजिक विचारों के अनुकूल स्वयं को ढाल लेता है; और अपने सब प्रकार के कल्याण करनेवाले समाज से सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्राप्त कर लेता है। दूसरा एकाकी खड़ा रहता है और समाज को अपनी ओर खींच लेता है। समाज के अनुकूल रहनेवाले मनुष्य का मार्ग फूलों से आच्छादित रहता है और प्रतिकूल रहनेवाले का काँटों से। परन्तु 'लोकमत' के उपासकों का क्षण भर में विनाश होता है और सत्य की सन्तान सदा जीवित रहती है।

सत्य की तुलना मैं एक अनन्त शक्तिशाली क्षयकर पदार्थ से करूँगा। वह जहाँ भी गिरता है, जलाकर अपना स्थान बना लेता है – यदि नरम वस्तु पर गिरे तो तत्काल और यदि कठोर पाषाण पर गिरे तो धीरे-धीरे; परन्तु वह

जलता अवश्य है। जो लिख गया, सो लिख गया। बहन, मुझे दु:ख है कि मैं प्रत्येक सफेद झूठ के प्रति मधुर और अनुकूल नहीं हो सकता। प्रयत्न करने पर भी मैं ऐसा नहीं कर सकता। इसके लिए मैंने आजीवन कष्ट उठाया है, परन्तु मैं वैसा नहीं कर सकता। मैंने बारम्बार प्रयत्न किया है, पर ऐसा नहीं कर सका। अन्त में मैंने उसे छोड़ दिया। ईश्वर महिमामय है। वह मुझे कपटी नहीं बनने देता। अब जो मन में है, उसे सामने आ जाने दो। मैं ऐसा कोई मार्ग नहीं निकाल पाया, जिससे मैं सबको प्रसन्न रख सकूँ। मैं वही रहूँगा, जो वास्तविक रूप से हूँ – अपनी अन्तरात्मा के प्रति पूर्ण रूप से ईमानदार! 'सौन्दर्य और यौवन का नाश हो जाता है, जीवन और धन का नाश हो जाता है, नाम और यश का भी नाश हो जाता है, पर्वत भी चूर-चूर होकर मिट्टी हो जाते हैं, मित्रता और प्रेम भी नश्वर हैं, एकमात्र सत्य ही चिरस्थायी है।' हे सत्यरूपी प्रभो, तुम्हीं मेरे एकमात्र पथप्रदर्शक बनो। मेरी उम्र बीत रही है, अब मैं मीठा और केवल मीठा नहीं बना रह सकता। मैं जैसा हूँ, वैसा ही रहने दो। 'हे संन्यासी, निर्भय होकर तुम दूकानदारी वृत्ति छोड़ दो, शत्रु-मित्र में भेद न रखकर सत्य में दृढ़प्रतिष्ठ रहो और इसी क्षण से इहलोक, परलोक और भविष्य के सब लोकों का, उनके भोग एवं उनकी असारता का त्याग कर दो। हे सत्य, तुम्हीं मेरे एकमात्र पथप्रदर्शक बनो।' मुझे धन या नाम या यश या भोग की कोई कामना नहीं है। बहन, मेरे लिए वे धूलि के समान हैं। मैं अपने भाइयों की सहायता करना चाहता था। प्रभु की कृपा से मुझमें धनोपार्जन का चातुर्य नहीं है। हृदयस्थ सत्य की वाणी की आज्ञा पालन न कर मैं लोगों की सनक के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न क्यों करूँ? मन अभी दुर्बल है बहन, और कभी-कभी यंत्रवत ही सांसारिक आधारों को पकड़ना चाहता है। परन्तु मैं डरता नहीं। मेरा धर्म सिखाता है कि भय ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रेसबिटेरियन पादरी से पिछली झड़प के बाद और फिर श्रीमती बुल से लम्बे झगड़े के पश्चात्, जो मनु ने संन्यासियों के लिए कहा है, 'अकेले रहो और अकेले चलो', वह स्पष्ट हो गया। हर तरह की मित्रता और प्रेम बन्धन है। ऐसी किसी की भी मित्रता नहीं, विशेषत: स्त्रियों की, जिसमें 'मुझे दो, मुझे दो' का भाव न हो। हे महर्षियो! तुमने ठीक ही कहा है – जो किसी व्यक्तिविशेष के आसरे रहता है, वह सत्यरूपी प्रभु की सेवा नहीं कर सकता। शान्त हो मेरी आत्मा, नि:संग बनो! परमात्मा तुम्हारे साथ रहेगा। जीवन मिथ्या है, मृत्यु भ्रम है! परमात्मा का ही अस्तित्व है, इन सबका नहीं! डरो नहीं मेरी आत्मा, नि:संग बनो। बहन, मार्ग लम्बा है, समय थोड़ा है, संध्या हो रही है। मुझे शीघ्र ही घर जाना है। मेरे पास शिष्टाचार सीखने का समय नहीं है। मुझे अपना सन्देश देने का समय तो मिलता ही नहीं। तुम गुणवती हो, दयावती हो, मैं तुम्हारे लिए कुछ भी करने को तैयार हूँ; परन्तु अप्रसन्न न हो, मैं तुम सबको नितान्त बच्ची ही समझता हूँ।

स्वप्न न देखो! आह, मेरी आत्मा! स्वप्न न देखो। संक्षेप में मुझे एक सन्देश देना है। मुझे संसार के प्रति मधुर बनने का समय नहीं है; और मधुर बनने का हर प्रयत्न मुझे कपटी बनाता है। चाहे स्वदेश हो या विदेश, इस मूर्ख संसार की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने की अपेक्षा और निम्नतम स्तर का असार जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मैं हजार बार मरना अधिक अच्छा समझता हूँ। यदि तुम श्रीमती बुल की तरह समझती हो कि मुझे कुछ कार्य करना है, तो यह तुम्हारी भूल है, नितान्त भूल है। इस जगत् या अन्य किसी भी जगत् में मेरे लिए कोई कार्य नहीं है। मेरे पास एक सन्देश हैं, उसे मैं अपने ढंग से ही दूँगा। मैं अपने सन्देश को – न हिन्दू धर्म, न ईसाई धर्म, न संसार के किसी अन्य धर्म के साँचे में ढालूँगा। बस, उसे मैं केवल अपने ही साँचे में ढालूँगा। मुक्ति ही मेरा एकमात्र धर्म है और जो भी उसमें रुकावट डालेगा, मैं उससे लड़कर या भागकर बचूँगा। छि:! मैं भला पादरियों को प्रसन्न करूँ! बहन, बुरा मत मानना। तुम बच्ची हो और बच्चियों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। तुम लोगों को उस स्रोत का आस्वाद नहीं मिला, जो 'तर्क को तर्कशून्य, मर्त्य को अमर, संसार को शून्य और मनुष्य को ईश्वर बना देता है।' यदि तुम निकल सकती हो, तो इस मूर्खता के जाल से निकलो, जिसे 'संसार' कहा जाता है। तभी मैं तुम्हें वास्तव में साहसी और मुक्त कह सकूँगा। यदि नहीं, तो जो इस झूठे ईश्वर अर्थात् समाज से भिड़ने का और उसके उद्दण्ड कपट को पैरों के नीचे कुचलने का साहस रखते हैं, उनको उत्साहित करो। यदि तुम उत्साह नहीं दिला सकतीं, तो चाहे मौन रहो, परन्तु उन्हें संसार से समझौता करने और मधुर तथा कोमल बनने के झूठे मिथ्यावाद के कीचड़ में फँसाने का प्रयत्न मत करो।

यह संसार – यह स्वप्न – यह अति भयानक दु:स्वप्न – इसके देवालय और छल-कपट, इसके ग्रन्थ और लुच्चापन, इसके सुन्दर चेहरे और झूठे हृदय, इसके धर्म का बाहरी ढोंग और भीतर का अति खोखलापन; और सबसे अधिक इसकी धर्म के नाम पर दूकानदार की सी वृत्ति – मुझे इससे सख्त नफरत है। क्या? संसार के हाथ बिके हुए दासों की कही-सुनी बातों से मेरी आत्मा का तोल होगा? छि:! बहन, तुम संन्यासी को नहीं जानतीं। मेरे वेद कहते हैं कि 'वह वेदशीर्ष है', क्योंकि वह देवालय, सम्प्रदाय, धर्ममत, पैगम्बर, ग्रन्थ और इनके समान सब वस्तुओं से मुक्त है। धर्मोपदेशक हों या और कोई, उन्हें चिल्लाने दो, मेरे ऊपर जिस प्रकार भी

आक्रमण कर सकें, करने दो। मैं उन्हें वैसा ही समझता हूँ, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है, "हे संन्यासी ! अपने रास्ते पर चलते जाओ ! कोई कहेगा, यह कौन पागल है? कोई कहेगा, यह कौन चाण्डाल है? कोई तुम्हें साधु जानेगा। संसारियों की बकवाद से योगी न तो रुष्ट होता है, न तुष्ट, वह सीधा अपने मार्ग से चलता जाता है।" परन्तु जब वे आक्रमण करें, तब यह जान लो कि 'बाजार में हाथी के पीछे कुत्ते अवश्य लगते हैं, परन्तु वह उनकी परवाह नहीं करता। वह सीधा अपनी राह पर चलता जाता है।' इसी तरह से जब कोई महात्मा प्रकट होता है, तब बहुत-से बकनेवाले लोग उसके पीछे लग जाते हैं।' (तुलसीदास)

मैं लैंड्सबर्ग के साथ ५४ पश्चिम, ३३वीं स्ट्रीट में रहता हूँ। यह वीर और उदार आत्मा है, परमात्मा उसका भला करे। कभी-कभी मैं गर्नसी परिवार के घर सोने के लिए चला जाता हूँ।[७१]

न्यूयार्क, ९ फरवरी १८९५ : इस घोर जाड़े में मैंने आधी-आधी रातों में पर्वतों और बर्फ को पार करके थोड़ा-सा धन संग्रह किया है और जब माँ (श्री सारदा देवी) के लिए एक भूखण्ड मिल जायेगा, तभी मेरे मन को चैन मिलेगा।[७२]

न्यूयार्क, १४ फरवरी १८९५ : मनु के मतानुसार, संन्यासी के लिए किसी सत्कार्य के लिए भी धनसंग्रह करना ठीक नहीं है। अब मुझे यह भलीभाँति अनुभव होने लगा है कि उन प्राचीन महापुरुषों ने जो भी कहा है, वह ठीक है। **आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्** – 'आशा ही परम दुःख तथा निराशा ही परम सुख है।' मुझे यह करना है, वह करना है, इस प्रकार की मेरी जो बालकों जैसी धारण थी, वह मुझे अब भ्रमात्मक प्रतीत होने लगी है। अब मेरी इस प्रकार की कामनाएँ दूर होती जा रही हैं।

'सब वासनाओं को त्यागकर सुखी बनो।' 'कोई भी तुम्हारा शत्रु या मित्र न रहे – तुम अकेले रहो।' 'इस प्रकार से भगवन्नाम का प्रचार करते हुए शत्रु तथा मित्रों के प्रति समदृष्टि रखकर, सुख-दुःख से अतीत हो, वासना तथा ईर्ष्या को त्यागकर, किसी प्राणी की हिंसा न करते हुए, किसी प्राणी के किसी प्रकार के अनिष्ट एवं उद्वेग का कारण न बनकर, हम गाँव-गाँव और पर्वत-पर्वत भ्रमण करते रहेंगे।'

'गरीब-अमीर, ऊँच-नीच किसी से कुछ भी सहायता न माँगो। किसी भी वस्तु की आकांक्षा न करो। और इन नेत्रों के सामने से क्रमशः विलुप्त होते हुए दृश्य-जाल को द्रष्टारूप से जानो और उन्हें गुजर जाने दो।'

सम्भवतः इस देश में मुझे खींच लाने के लिए ऐसी उन्मत्त कामनाओं की आवश्यकता थी। इस प्रकार के अनुभव लाभ करने के लिए मैं प्रभु को धन्यवाद देता हूँ।

मैं यहाँ पर अत्यन्त सुखी हूँ। लैंडसबर्ग के साथ मिलकर मैं कुछ चावल, दाल या बार्ली पका लेता हूँ, चुपचाप भोजन करता हूँ, तदनन्तर कुछ लिखता-पढ़ता हूँ, या फिर उपदेश के इच्छुक जो गरीब लोग आ जाते हैं, उनसे बातचीत करता रहता हूँ। इस प्रकार रहकर मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो मैं ठीक संन्यासी का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ, जिनका अनुभव अमेरिका आने के बाद अब तक मैंने नहीं किया था।

'धन रहने से दारिद्र्य का भय है, ज्ञान रहने पर अज्ञान का भय है, रूप में बुढ़ापे का भय है, गुण रहने से खल का भय है, उन्नति में ईर्ष्या का भय है, यहाँ तक कि देह रहने पर मृत्यु का भय है। इस जग में सब कुछ भययुक्त है। एकमात्र वही पुरुष निर्भीक है, जिसने सब कुछ त्याग दिया है।'

मैं उस दिन कुमारी कार्बिन से मिलने गया था। कुमारी फार्मर तथा कुमारी थर्सबी भी वहीं थीं। आधे घण्टे का समय बड़े आनन्द में व्यतीत हुआ। उनकी इच्छा है कि आगामी रविवार से मैं उनके मकान में अपना कोई कार्यक्रम रखूँ।

मैं अब इन चीजों के लिए व्यग्र नहीं हूँ। यदि कुछ स्वयं ही उपस्थित हो, तो इसे प्रभु की जय मानता हूँ; और यदि न हो, तो उनकी और भी अधिक जय मानता हूँ।[७३]

न्यूयार्क, १८ फरवरी १८९५ : मैं बड़े कुशल-मंगल से हूँ। केवल इन विराट् निशा-भोजों ने मुझे देर तक जगाये रखा और कई बार मैं सुबह के दो बजे आवास पर लौटा। आज रात मैं ऐसे ही एक भोज में जा रहा हूँ। यह उस ढंग का आखिरी होगा। रात में इतनी देर तक जगे रहना मेरे लिये ठीक नहीं है। प्रतिदिन ११ से १ बजे तक मैं अपने कमरे में कक्षा लेता हूँ और तब तक बोलता रहता हूँ, जब तक कि वे थक नहीं जाते। ब्रुकलिन का कोर्स कल पूरा हो गया। अगले मंगलवार को वहाँ मेरा एक अन्य व्याख्यान है।

इन दिनों मेरा सामान्य आहार है – बीन का सूप तथा चावल या बार्ली। मैं केवल अपना खर्च निकाल रहा हूँ और उसके अलावा कुछ नहीं, क्योंकि अपने कमरे में होनेवाली कक्षाओं के लिये मैं कोई शुल्क नहीं लेता। और सार्वजनिक व्याख्यान की व्यवस्था में अनेक लोगों का योगदान होता है। न्यूयार्क में पहले से ही मेरे अनेक व्याख्यानों की योजना बन रही है, जिन्हें मैं क्रमशः देने की उम्मीद कर रहा हूँ।[७४] ...

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

६२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३३३; **६३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ४९; **६४.** साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३४२; **६५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३५९; **६६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६८; **६७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६४-६५; **६८.** वही, खण्ड ३, पृ. ३६९; **६९.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७१; **७०.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७७; **७१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३७८-७९; **७२.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८२; **७३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३८३; **७४.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. ५३-५४
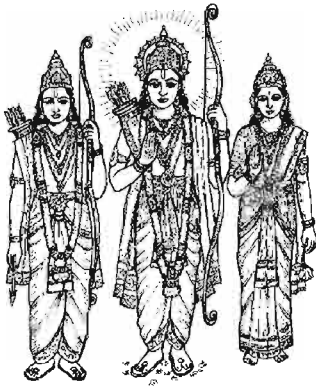
रामराज्य की भूमिका (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

भगवान की कृपा प्राप्त करने की अपेक्षा जीवन में साधुता लाना अधिक कठिन है। महापुरुषों ने इन दोनों में बड़ा अन्तर किया है। जिन लोगों को भगवान का दर्शन होता है, क्या उनमें समानता होती है? हनुमानजी क्यों महान् हैं? सुग्रीवजी उनकी अपेक्षा हीन क्यों है? भगवान का दर्शन तो दोनों को हुआ। दोनों में क्या अन्तर है? अन्तर भगवान की प्राप्ति में नहीं, बल्कि अन्तर साधुता में है। हनुमानजी के चरित्र में जो दिव्यता है, वह सुग्रीव के चरित्र में नहीं है। इसलिए भक्तों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, गोस्वामीजी ने भगवान को पाया, पर वे 'विनय-पत्रिका' (१७२) में उनसे माँग करते हैं – कृपा करके आप मुझे साधु बना दीजिए। वे भगवान से प्रार्थना करते हैं – आपने कृपा करके दर्शन तो दे दिया, पर वह दिन कब होगा, जब हमारा स्वभाव सन्त जैसा होगा? हमारे अन्त:करण में समत्व का उदय होगा। हमारे अन्त:करण में सुख-दुख के प्रति समबुद्धि होगी। दूसरों द्वारा अलोचना सुनकर हमारे अन्त:करण में पीड़ा नहीं होगी –

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाव गहौंगे ।।
बिगत मान सम शीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।।

इसमें ऐसी कोई बात नहीं है जो समझ में न आए। जैसे कोई व्यक्ति साधना करके ईश्वर का दर्शन कर लें, तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसके लिए शरीर-रक्षा हेतु स्वास्थ्य के नियमों का पालन की आवश्यकता नहीं रहेगी। एक महान् भक्त भी यदि शरीर के लिए स्वास्थ्य के नियमों का पालन नहीं करेगा, तो उसका शरीर अस्वस्थ हो जायेगा। इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के बाद भी उसके मन की साधना चलती रहनी चाहिये। जैसे शरीर को नित्य व्ययाम और स्वास्थ्य के सब नियमों के पालन की आवश्यकता है, इसी प्रकार मन को भी निरन्तर लक्ष्य में स्थिर रखना होगा।

गोस्वामीजी ने भरतजी के सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर सूत्र दिया। श्रीभरत की अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा क्या है? साधना की यात्रा। चित्रकूट से लौटकर वे फिर अयोध्या में आते हैं और वहाँ पर भी श्रीभरत तपस्या में लगे हुए हैं। उन्होंने अपने जीवन में तपस्या को स्वीकार कर लिया है। किसी ने गोस्वामीजी से पूछा – "भगवान को पाना ही तपस्या का फल है। भरतजी ने चित्रकूट में भगवान का दर्शन किया और जब वहाँ भगवान से मिल चुके, तो लौटकर फिर कोई साधना-तपस्या की आवश्यकता थी क्या? यदि न करते तो इसमें क्या आपत्ति थी?" गोस्वामीजी ने बड़े महत्त्व का सूत्र दिया। वे बोले – भरतजी अयोध्या में रहकर तपस्या की कसौटी पर अपने शरीर को कसते रहें –

लखन राम सिय कानन बसहीं ।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं ।। २/३२६/२

सांसारिक सोने को तो हम एक ही बार कसकर परख सकते हैं, परन्तु मन के सोने की विचित्रता यह है कि इसको जीवन भर परखते रहिए। यह मानकर सन्तुष्ट न हो जाइए कि एक बार परख लेने मात्र से ही यह मन खरा उतर चुका है। यह सोना ऐसा विलक्षण है कि यह कब कितना खरा हो जायगा और कब कितना खोटा हो जायेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। भरतजी तपस्या के द्वारा मानो उस मन को बार-बार कसौटी पर कस रहे हैं कि कहीं इसमें कोई लालसा – सुख की वासना, राज्य की वासना, भोग की वासना तो अन्त नहीं है? ये बातें अलग-अलग हैं।

जैसे एक भक्त के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह एक बहुत बड़ा पहलवान भी हो, जो सारे पहलवानों को कुश्ती में पटक दे; वैसे ही किसी भक्त या ज्ञानी के लिये भी यह आवश्यक नहीं कि वह सबसे बड़ा विद्वान् हो जाय। सब के लिये अलग-अलग प्रयत्नों की अपेक्षा है। भगवत्प्राप्ति भिन्न वस्तु है और उसके लिये अलग से प्रयत्न करना होगा।

मनु के जीवन में साधना का यह पक्ष स्पष्ट दिखाई देता है कि उनके जीवन में कितना त्याग है, पर भगवान कहते हैं कि स्वर्ग में जाकर स्वर्ग का सुख भोग करो। भगवान का अभिप्राय यह था कि वासना के संस्कार अभी हैं, पर दबे हुए हैं। आसक्ति और वासना के संस्कार अन्त:करण में बड़ी गहराई में छिपे होते हैं। इसके बाद मनु दशरथ बन गये और सतरूपाजी कौशल्या बनीं। कौशल्याजी के जीवन में तो आदि से अन्त तक सचमुच ही परिपूर्णता है। परन्तु दशरथ बनकर भी मनु को न तो संसार के भोगों को भोगकर वैराग्य

हुआ, न स्वर्ग के भोगों को भोगने पर वैराग्य हुआ। वे मृत्युलोक में दशरथ बनकर आए और श्रीराम ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया। उन्होंने वात्सल्य का बड़ा सुख पाया। रामायण का मुख्य उद्देश्य केवल रसानुभूति नहीं है और रामायण के चरम सिद्धान्त में इस बात पर बड़ा बल दिया गया है। रस का भी महत्त्व है। भगवान का चरित्र सुनकर आँसू आ गये, गद्‌गद हो गये – इन सब लक्षणों को महत्त्व दिया गया। पर ऐसे लक्षण तो सांसारिक दृश्यों को भी देखकर हमारे मन में आते हैं और हम रो पड़ते हैं, हमारे शरीर में रोमांच हो आता है। किन्तु भगवत्प्राप्ति का चरम फल तत्त्वज्ञान है। भगवान से केवल रस नहीं पाना है, रस के साथ-साथ भगवत्तत्त्व का बोध हुआ या नहीं?

दशरथजी के रूप में मनु उस तत्त्वबोध से वंचित हैं। बल्कि गोस्वामीजी ने लिखा कि बहुत लम्बी प्रक्रिया चली, तब कहीं जाकर मनु की मन:स्थिति बदली। उनकी मन:स्थिति क्या थी? बार-बार ऋषि-मुनि आते थे और दशरथजी को बताते थे कि तुम जिसे पुत्र समझते हो, वे साक्षात् ब्रह्म है। पर उनका वात्सल्य बड़ा प्रबल था। जब भगवान राम के वन जाने का अवसर आया, तो दशरथजी ने उन्हें बैठाकर कहा – बेटा, मुनिगण कहते हैं कि तुम चराचर के स्वामी हो –

सुनहु तात तुम्ह कहुँ मुनि कहहीं।
रामु चराचर नायक अहहीं ।। २/७७/६

प्रभु ने देखा कि पहले तो नहीं मानते थे, क्या अब मानने लगे? बोले – नहीं ! पहले तो सुनकर कभी सन्देह भी हुआ हो, पर अब तो निश्चय हो गया कि तुम ईश्वर नहीं हो। – कैसे? तो उन्होंने व्याख्या की –

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी।
ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी ।। २/७७/७

– शास्त्रों ने बताया है कि ईश्वर न्याय करता है। वह व्यक्ति को भले कर्मों का अच्छा फल देता है और बुरे कर्मों का बुरा फल देता है। तुम ईश्वर होते तो कम-से-कम स्वयं से तो न्याय करते ! इससे सिद्ध हुआ कि तुम ईश्वर नहीं हो।

बोले – अपराध तो कैकेयी या मैंने किया, तो दण्ड हमें मिलना चाहिए था, पर दण्ड तुम भोग रहे हो। तुम्हारे प्रति इतना अन्याय किया जा रहा है, पर तुम स्वयं को दण्ड से नहीं बचा रहे हो, तो तुम कैसे ईश्वर हो?

औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु ।।७७।।

भगवान राम उस दु:ख की बेला में ऊपर से तो गम्भीर बने रहे, पर मन-ही-मन मुस्कुराये। दशरथजी की पक्की रसानुभूति की वृत्ति यही है कि अब भी ईश्वरत्व का बोध नहीं है। वह तो इस सीमा तक पहुँचा हुआ है कि शरीर छूट गया, स्वर्ग में चले गये, पर जब युद्ध समाप्त हुआ और इन्द्र ने कहा कि प्रभु ने रावण का वध कर दिया। तो 'प्रभु' शब्द को तो उन्होंने सुना ही नहीं। इन्द्र से यही पूछा – क्या मेरे बेटे ने रावण को मार दिया? अब बेचारे इन्द्र क्या कहें? बोले – हाँ महाराज, आपके बेटे ने मार दिया। – तो मैं अपने पुत्र को देखना चाहता हूँ। उनकी इतनी गहरी रस और आसक्ति की वृत्ति है कि उस समय भी वे स्वर्ग से लंका के रणांगण में आए। भगवान श्रीराम ने जब उन्हें देखा कि वे आए हुए हैं और पूरा पुत्र मानकर आए हुए हैं। तो वे श्रीराम लक्ष्मणजी के साथ खड़े हुए और दोनों ने उनके चरणों में सिर रख दिया। पिताजी ने आशीर्वाद दिया। भगवान राम ने उस समय उनकी भावना का निर्वाह किया बोले – पिताजी, आपके पुण्य के प्रभाव से यह अजेय राक्षस मारा गया –

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा।
आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा।।
तात सकल तव पुण्य प्रभाऊ।
जीत्यों अजय निसाचार राऊ ।। ६/११२/२-३

इस पर दशरथजी की आँखों में आँसू आ गए कि राम मेरा कितना सम्मान करता है। पर गोस्वामीजी बोले – नाट्य -मंच का सत्य चाहे जितना भी मधुर हो, पर परदा तो कभी-न-कभी गिरता ही है। बिना परदा गिरे कोई नाटक समाप्त नहीं होता। अब भगवान राम को यह चिन्ता होने लगी कि आसक्ति के कारण पिताजी कहीं यह न कहने लगें कि अब मैं अयोध्या चलूँ और तुम्हें सिंहासन पर भी बैठा हुआ देख लूँ, तब स्वर्ग लौटूँ। तब तो इस नाटक का असीम विस्तार हो जायगा। जब हम नाटक पढ़ते या देखते हैं, तो बड़े उत्सुक हो जाते हैं कि उसके बाद क्या हुआ? फिर क्या हुआ? पर नाटक कहीं-न-कहीं समाप्त तो होगा ही। भगवान श्री राघवेन्द्र को लगा कि अब परदा गिराने का अवसर आ गया है और उन्होंने अचानक अपनी दृष्टि का प्रयोग किया – महाराज दशरथ की आँखें प्रभु की आँखों से मिलीं और क्षण भर में ही उनकी रसानुभूति की वृत्ति समाप्त हो गई –

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना।
चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ग्याना ।। ६/११२/५

अरे, यह तो साक्षात् ब्रह्म है और उसके बाद जब दशरथजी जाने लगे तो दृश्य बदला हुआ था। न भगवान राम ने जाते हुए दशरथजी को प्रणाम किया और न लक्ष्मण जी ने। गोस्वामीजी कहते हैं – अब दशरथजी ने जाते हुए स्वयं ही श्रीराम और लक्ष्मणजी को प्रणाम किया –

बार बार करि प्रभुहि प्रणामा।
दसरथ हरषि गए सुरधामा ।। ६/११२/८

परदे का सत्य दूसरा था। परन्तु परदे के पीछे का दशरथजी के जीवन की परिपूर्णता का जो वास्तविक तत्त्व था, जिसका क्रम मनु के जीवन से प्रारम्भ हुआ था, लंका के

रणांगण में अन्ततोगत्वा ज्ञान से उसकी समाप्ति होती है। यह साधना की बड़ी कठिन पद्धति है। दशरथ जी के जीवन में रामराज्य की स्थापना का संकल्प तब उदय हुआ, जब उनके अन्त:करण में राग या आसक्ति के संस्कार विद्यमान थे। इतने गुण होते हुए भी, इतने महान् होते हुए भी, उनमें बड़ी श्रेष्ठ वृत्ति आई, त्याग का संकल्प आया, समर्पण का संकल्प आया। कब? गोस्वामीजी कहते हैं – महाराज दशरथ सिंहासन पर बैठे हुए थे और चारों ओर अयोध्यावासी प्रशंसा कर रहे थे कि दशरथ के समान कोई महान् नहीं है –

तिभुवन तीनि काल जग माहीं ।
भूरिभाग दसरथ सम नाहीं ।। २/२/४

महाराज दशरथ ने प्रशंसा सुनी और गोस्वामीजी ने लिखा – महाराज श्री दशरथ ने हाथ में दर्पण ले लिया –

रायँ सुभायँ मुकुरु कर लीन्हा ।। २/२/६

दशरथ जी के चरित्र का यह एक उज्जवल पक्ष है। प्रशंसा सुनकर बहुधा हम दर्पण देखना बन्द कर देते हैं। प्रशंसा का अर्थ ही यह है कि सामने वाले व्यक्ति ने आपको जिस दृष्टि से देखा है, वह उसकी प्रशंसा में अभिव्यक्त हो रहा है। प्रशंसा सुनकर यदि आप सामनेवाले व्यक्ति की दृष्टि को ही प्रामाणिक मान लें, तो बड़े घोखे में फँस सकते हैं, जैसा कि अधिकांश लोगों के साथ होता है। दूसरे कोई जब प्रशंसा करते हैं, तो उसे सुनकर हमें यह भ्रम हो जाता है कि मुझमें यह विशेषता न होती, तो इतने लोग हमारी प्रशंसा क्यों करते? लेकिन दशरथ में यह वृत्ति नहीं थी।

सिंहासन पर बैठने वाले शीशा देखना बन्द कर देते हैं। यह सत्ता का, सिंहासन पर बैठनेवालों का स्वभाव है कि आसपास के प्रशंसकों पर उनकी दृष्टि अधिक होती है। उनकी दृष्टि अपनी ओर नहीं होती है, क्योंकि उनको भय लगता है कि दर्पण में अपनी कुरूपता न दिखाई दे जाय। नारदजी से यही भूल हो गई थी। वे विश्वमोहिनी से विवाह करना चाहते थे और उसकी स्वयंवर-सभा में चल गये। सभा में जाने से पहले उन्होंने दर्पण नहीं देखा। दर्पण तो उनके पास था ही नहीं। बिना दर्पण देखे ही वे स्वयंवर-सभा में पहुँच गये। शंकरजी के दो गण उनके दोनों ओर बैठ गये और नारदजी को सुनाकर उनकी प्रशंसा करने लगे।

प्रशंसा जब सुनाकर की जाती है, तो उसके कई उद्देश्य हो सकते हैं – या तो वह उत्साहित करने के लिए की जा रही होगी, या फिर चाटुकारिता से अथवा व्यंग्य में। उसमें सद्भाव भी हो सकता है, दुर्भाव भी हो सकता है और भूल भी हो सकती है। इस प्रसंग में गोस्वामीजी ने व्यंग्य किया कि दोनों बैठे तो कैसे बैठे? साथ आये थे, तो साथ बैठते, पर नहीं, एक साथ नहीं बैठे, एक दाहिने बैठ गया और एक बाएँ। बीच में नारदजी बैठे हैं और दोनों ओर वे दोनों। अब दोनों के बीच एक दूरी तो बन ही गई और जब वे आपस में बातें करेंगे, तो नारदजी जरूर सुनेंगे और उनका लक्ष्य भी नारद को सुनाना ही है। इसीलिए दोनों उनके दाएँ-बायें बैठकर उनकी प्रशंसा करने लगे। इनकी प्रशंसा तो शुद्ध व्यंग्यात्मक थी – भगवान ने इन्हें कितनी सुन्दरता दी है। नारदजी यह सोचकर और भी फूल गये कि ये लोग भी मेरी सुन्दरता की प्रशंसा कर रहे हैं। फिर उन लोगों ने घोषणा कर दी – राजकुमारी इनकी सुन्दरता को देखकर जरूर रीझ जायेगी और इनको दूसरा हरि समझकर वरण कर लेगी –

करहिं कूटि नारदहि सुनाई ।
नीकि दीन्हि हरि सुंदरताई ।।
रीझिहि राजकुँवरि छबि देखी ।
इन्हइ बरिहि हरि जानि बिसेषी ।। १/१३३/४

हरि शब्द भगवान के लिए और बन्दर के लिए भी प्रयुक्त होता है। नारदजी फूल गये और परिणाम क्या हुआ !

अत: दर्पण निरन्तर अपने साथ रखना चाहिये। हम लोग दर्पण रखते भी हैं, तो कमरे में रखते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अपने श्रृंगार के लिए दर्पण साथ में रखते हैं। पर दर्पण देखने का अर्थ यह है कि हम केवल एकान्त में ही आत्मनिरीक्षण न करें, समाज में भी सजग रहें। एकान्त में भी अपने विषय में विचार करें और लोगों के वाक्यों के सन्दर्भ में भी अपनी ओर दृष्टि डालने की चेष्टा करें। प्रशंसा सुनकर नारदजी फूल गये। दोनों ओर से प्रशंसा हो रही है – एक ही कहता तो शायद न मानते, पर दाहिने वाला भी कर रहा है और बाएँ वाला भी कर रहा है, तब तो प्रशंसा सही ही होगी। एक दर्पण के अभाव में उस प्रशंसा ने नारद को ऐसे संकट में डाल दिया कि विश्वमोहिनी ने उनकी ओर देखा तक नहीं। नारदजी पूरी तरह अपमानित हो गये। ये दाएँ-बाएँ वाले प्रशंसक लोग कब बदल जायेंगे, इसका कोई ठिकाना नहीं। बाद में वे दोनों शिवगण नारदजी से कहने लगे – जाकर जरा अपना मुँह दर्पण में तो देखिए –

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ।। १/१३४/६

उनको बड़ा आनन्द आने लगा कि इनकी क्या दुर्दशा हुई, कैसा अपमान हुआ? जो लोग झूठी प्रशंसा से प्रोत्साहन देते हैं, वे अपमानित होते देखकर मुस्कराते हैं, उनको कोई पीड़ा नहीं होती। दर्पण का अर्थ है – आत्मनिरीक्षण का साधन। स्वयं को देखने के लिए दर्पण चाहिए। अयोध्याकाण्ड के शुरू में कह दिया गया कि दर्पण जरूर देखिए। पहले दर्पण को साफ कीजिए और फिर उसमें स्वयं को देखिए। गोस्वामीजी कहते हैं – जो मन के दर्पण में बुद्धि की आँखों से स्वयं को देखता है, वह अपनी सच्चाई को जान लेता है –

श्रीगुरुचरन सरोज रज निज मन मुकुर सुधारि ।
बरनौ रघुबर बिमल जसु जो दायक फल चारि ।।२/१

दशरथजी में यह वृत्ति है, किन्तु दशमुख में यह वृत्ति नहीं है। इसलिए लंका के इतने बड़े प्रसंग में गोस्वामीजी ने कहीं नहीं लिखा कि रावण कभी दर्पण के सामने खड़ा हुआ हो। यह उनकी सांकेतिक शैली है। इसका अर्थ यह नहीं कि लंका में शीशे नहीं रहे होंगे। इतना सुन्दर नगर था, तो न जाने कितने शीशे लगे रहे होंगे। पर व्यंग्य यह है कि शीशे थे, पर शीशा देखने का अभ्यास ही नहीं था। ऐसी स्थिति में दशरथ उस कमी से मुक्त हैं, जो दशमुख में विद्यमान है। तो दशरथजी ने जब प्रशंसा सुनकर दर्पण देखा, तो उनको अपनी कमियाँ दिखाई देने लगीं। उन्होंने सोचा – ये लोग भले ही मेरी प्रशंसा कर रहे हों, पर मुझमें कमी है। उन्होंने देखा कि मुकुट टेढ़ा हो गया है। मुकुट का टेढ़ा होना दोष है। यह असंतुलन और विषमता का परिचायक है। मुकुट का टेढ़ा होना अर्थात् दशरथजी के चरित्र में एक कमी है। मुकुट एक ओर झुका हुआ है। उनके चरित्र में यह एक ओर का झुकाव बड़े महत्त्व का है। युद्ध में भी रथ के पहिए का कील गिर जाने से रथ एक ओर झुक गया और सिंहासन पर भी मुकुट एक ओर झुका हुआ है। उनका मन एक ओर झुका हुआ है – महारानी कैकेयी के प्रति उनकी आसक्ति है। आसक्त व्यक्ति का मन एक ओर झुका हुआ होता है। कैकेयी जी के सौन्दर्य के प्रति उनके मन में इतनी आसक्ति है कि वह झुकाव उनके प्रत्येक व्यवहार में परिलक्षित होता है। पर राजा के रूप में उन्होंने बुद्धि से समझा कि इस असन्तुलन को हमें दूर करना चाहिए। उन्होंने अपना मुकुट सीधा किया। इसके बाद उनकी दृष्टि अपनी दूसरी कमी की ओर गई। उन्होंने देखा कि कान के पास बाल सफेद हो गये हैं। और तब उनको यह लगा कि कान के पास सफेद बाल मानो मेरे कान में कुछ सन्देश दे रहे हैं। क्या सन्देश दे रहे हैं?

श्रवन समीप भए सित केसा।
मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा।।
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू।। २/२/७-८

कह रहे हैं – मुकुट को सीधा करना ही चरम लक्ष्य नहीं है। इसे उतारिए और इसे श्रीराम के सिर पर दे दीजिए। महाराज श्री दशरथ ने दर्पण में यह देखा और शरीर से यह सन्देश सुना। शरीर की वृद्धावस्था, शरीर की नश्वरता, शरीर का रोग – ये हमें सन्देश देते रहते हैं। यदि हम उस सन्देश को सुन सकें, समझ सकें, तो हमारे जीवन में बदलाव आ सकता है। जब हम रोगी होते हैं, बूढ़े होते हैं, तो शरीर अपने वास्तविक स्वरूप को प्रगट करके हमें शिक्षा देता है कि हम जिसको पकड़े हुए हैं, वह अनित्य है, इसको छोड़कर नित्य (आत्मा) को पाने की चेष्टा करो। यही हमारे जीवन की सार्थकता है। दर्पण के माध्यम से शरीर को देखकर दशरथजी ने यह प्रेरणा प्राप्त की और इसके बाद मंत्रियों से सलाह करके उनके मन में त्याग की इच्छा हुई और उन्होंने संकल्प किया कि यह राज्य अब हम राम को दे देंगे। परन्तु महाराज दशरथ की भ्रान्ति अब भी बनी हुई है। राम के ईश्वरत्व के ज्ञान को उन्होंने अपनी रसानुभूति में भुला दिया है और वे राम को एक व्यक्ति मानते हैं। वे यह मानने का भूल कर बैठते हैं कि इस राज्य का स्वामी मैं हूँ और जिसको राज्य दूँगा, वही राजा बनेगा। यह राज्य मैं राम को देकर रामराज्य बना दूँगा। राम उनकी दृष्टि में व्यक्ति हैं और वे समझते थे कि रामराज्य की स्थापना मैं करूँगा। मैं दाता हूँ और राम गृहीता होंगे। उनके अन्तःकरण में यह कमी है, समर्पण में भी स्वामित्व का अभिमान है।

गंगावतरण के प्रसंग में एक सांकेतिक बात आती है। राजा बलि ने सारे संसार को जीतकर निर्णय किया कि अब मैं यज्ञ करूँगा। संसार में मैंने जो कुछ भी अर्जित किया है, उन सभी वस्तुओं को मैं उस यज्ञ में दान कर दूँगा। भगवान वामन के रूप में स्वयं उनकी यज्ञशाला में पधार गये। भगवान क्यों आये? साधारण व्यक्ति को तो लगता है कि भगवान राजा बलि को ठगने के लिये ही वामन बनकर गये थे। यदि हम वामन को छली माने, तो फिर उन्हें भगवान तो न कहें। भगवान भी हों और छली भी हों – यह तो विरोधाभास लगता है। यदि वे भगवान होंगे, तो छली नहीं होंगे। वे लगते तो छली हैं, पर इसके माध्यम से भगवान कुछ बताना चाहते हैं। जब कहते हैं कि श्रीकृष्ण मक्खन चोरी करते थे, तो इसका अर्थ क्या हुआ? जब कहते हैं कि भगवान वामन ने छल किया, तो इसका अर्थ क्या हुआ? संसार की विडम्बना यह है कि जिन लोगों के पास सही दृष्टि नहीं है, उन्होंने जब भगवान आये तो उन्हें छली और चोर समझ लिया। चोर क्यों मान लिया? किसी गोपी ने कृष्ण को मक्खन निकालते देख लिया और आकर उनका हाथ पकड़ लिया; बोली – चोरी करते हो? भगवान कृष्ण ने एकदम अचकचा कर कहा – अरी गोपी, यह घर तुम्हारा है क्या? मैं तो अपना घर समझ कर चला आया और मक्खन निकाल लिया। क्या तात्पर्य है? क्या सचमुच श्रीकृष्ण धोखे में आ गये या फिर यही वास्तविकता है? ईश्वर यह देखकर चकित है कि सारे संसार को मैं अपना समझे बैठा था, पर ये लोग स्वामी बन बैठे हैं और मुझे चोर बता रहे हैं। कैसी विचित्रता है! वस्तुतः चोर तो वे हैं, जो भगवान की वस्तुओं पर अधिकार किये हुए बैठे हैं। परन्तु वे ही भगवान को प्रमाणपत्र देते हैं कि तुम चोर हो। भगवान ने अपनी लीला के माध्यम से बड़े सहज भाव से सत्य को प्रगट कर दिया कि भगवान चोर नहीं है। वे कहते हैं – मैं क्या करूँ, मुझे तो सारी वस्तुएँ अपनी लगती हैं। तुम लोगों ने बलपूर्वक अधिकार कर लिया है, तो अगर सीधे-से नहीं दोगे, तो

छीनना पड़ेगा। हाँ, ईश्वर यह भी करता है। वह छीनता भी रहता है। जीवन भर आप जितना भी अपना अधिकार मानिए, पर मृत्यु के रूप में वह हमसे सब कुछ छीन लेता है। तात्पर्य यह कि यदि सीधे नहीं दोगे, तो छीन लिया जायगा। इसी प्रकार भगवान वामन छली नहीं हैं, बल्कि वे इसी सत्य को प्रगट कर रहे हैं। वामन बनकर क्यों आए? इसलिये कि व्यक्ति की धारणा यह है कि देनेवाला बड़ा है और लेनेवाला छोटा है। भगवान ने मानो इसी को प्रत्यक्ष प्रतिफलित दिखाने के लिये, वामन का रूप, बौना रूप धारण कर लिया। व्यक्ति का अभिमान इतना बड़ा हो गया कि ईश्वर भी उसको लघु लगने लगा, छोटा लगने लगा। आया भी है, तो याचक बनकर आया है, परन्तु बलि ने उनका सम्मान भी किया और पूजा भी की। उन्होंने भगवान से कहा – आप जो माँगेंगे, मैं दूँगा। गुरु शुक्राचार्य ने धीरे से बलि के शरीर को दबा कर संकेत किया – चलो, अकेले में। एकान्त में ले जाकर वे अपने यजमान से बोले – अरे मूर्ख, ये तो साक्षात् भगवान हैं। – तब तो महाराज, यह तो मेरा बड़ा सौभाग्य है। गुरु ने कहा – सौभाग्य नहीं, तेरा दुर्भाग्य है। – कैसे? – यह तेरी सम्पत्ति को लेने के लिए आया है; तुम लौटकर जाओ और कह दो कि नहीं दूँगा।

गुरु होते हुए भी उनके मन में भोगों के प्रति कितनी आसक्ति है। चिन्ता हो गई – चेले की सम्पत्ति चली गयी, तो हमारी सेवा कैसे होगी, इतनी सुविधा कहाँ से मिलेगी। इसीलिए चेला को शिक्षा दी – भगवान को मना कर दो। लेकिन राजा बलि में विवेक था। वे बोले – महाराज, जब आप कह ही रहे हैं कि वे भगवान हैं, तब तो आप यह भी मानते होंगे कि भगवान सर्वशक्तिमान हैं। बोले – हाँ, सर्व-शक्तिमान तो हैं। – "महाराज, वे राज्य और सम्पत्ति छीन सकते हैं या नहीं? जब वे छीन सकते हैं और कृपा करके माँग रहे हैं, तो क्यों न उनकी कृपा से हम अपने को दानी कहला लें! आप यह क्यों कह रहें कि मत दो? यह तो उनकी बड़ी अनुकम्पा है कि वे मुझे अवसर दे रहे हैं कि मैं दाता बन जाऊँ।" गुरुजी को क्रोध आ गया। बोले – मूर्ख, गुरु की अवहेलना करता है। मेरी बात नहीं मानता? जा तेरी सम्पत्ति नष्ट हो जाय। परन्तु बलि में अपने दादा प्रह्लादजी के संस्कार थे। बोले – "महाराज देखिए, ईश्वर की विलक्षणता क्या है! आपको मेरी सम्पत्ति को बचाने की चिन्ता थी, पर आपने शाप वही दिया, जो ईश्वर चाहता है। इसलिए अच्छा ही हुआ कि इस संकल्प से मैं विचलित नहीं हुआ।"

इसके बाद बलि की यज्ञशाला में भगवान बड़े बने और ब्रह्माण्ड को नापने लगे। बड़ी सार्थक कथा है। बड़े बनकर ब्रह्माण्ड को नाप क्यों रहे हैं? कहते हैं कि जब भगवान का चरण बढ़ा और जब वह ब्रह्मलोक तक पहुँचा, तो ब्रह्माजी कमण्डलु लेकर उठे और भगवान के चरणों को धोने लगे। तभी गंगाजी का आविर्भाव हुआ। किसी देवता ने ब्रह्मा से पूछ दिया –महाराज, लीला तो बलि की यज्ञशाला में हो रही है। भगवान बलि के यज्ञ शाला में तीन पग भूमि नाप रहे हैं। अत: भगवान के चरण तो बलि को धोना चाहिये था, आप क्यों धो रहे हैं? ब्रह्माजी हँसकर बोले – अरे नहीं भाई, भगवान बलि का नहीं, मेरा अहंकार नाप रहे हैं। विवेक का यही अर्थ है। भक्ति गंगा का उदय कब होता है? जब ब्रह्माजी को यह प्रतीत हुआ कि भगवान ने मेरे अहंकार को नाप लिया। कैसे? मैं ब्रह्मा के रूप में सृष्टि का निर्माता माना जाता हूँ और मुझे लगता था कि मैंने कितना बड़ा संसार बनाया है, परन्तु भगवान ने दिखा दिया कि तुम्हारा संसार तो मेरे दो पग के बराबर नहीं है। कितना बड़ा तुम्हारा संसार है! इससे तो मानो मेरा अहं ही नप गया।

तो भक्ति-गंगा अन्त:करण में तभी उदित होगी, जब हम ईश्वर को विराट् रूप में देखेंगे अपनी क्षुद्रता को जान लेंगे। इसके बाद यज्ञशाला में भगवान बलि से कहते हैं – तुमने तीन पग भूमि देने का वचन दिया था, अभी तो दो ही हुए, एक पग और दो। बलि बोले – महाराज, अब तो मेरे पास कुछ नहीं बचा है। अब मैं क्या करूँ? भगवान ने बलि को बन्धन में बाँध लिया। क्या संकेत है? बन्धन में बाँधा जाने वाला अपने को बड़ा मान बैठा, लेनेवाला छोटा दिखाई पड़ा। देने वाले ने अपने पास का सब कुछ दे दिया, तो भी उसको बन्धन में बाँधा गया। दैत्य तो चिढ़ गये – कितना बड़ा छली है! आया था इतना छोटा-सा रूप लेकर, इस तरह रूप बदलकर इसने हमारे स्वामी की सम्पत्ति को छीन लिया है। चलो, इसको मारें। बलि ने हाथ दिखाकर रोका। वस्तुत: भगवान की तो बलि पर अपार करुणा थी।

उसी समय प्रह्लादजी आ गए और उनका दर्शन करते ही बलि की बुद्धि शुद्ध हो गई। वह बोला – महाराज, अब तो कुछ भी नहीं बचा है, केवल मैं ही बचा हूँ, अब मुझे ही और नाप लीजिए। भगवान ने राजा बलि के मस्तक पर चरण रखा और मुस्कुराकर कहा – हाँ, अब मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। तुम्हारा दान पूरा हो गया। भगवान ने संकेत दे दिया – बड़ा व्यक्ति समझता है कि मैं महान् हूँ। परन्तु साधारण दान से तो क्या, सारे ब्रह्माण्ड का भी यदि दान कर दिया जाय, तो बन्धन से मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो तब है, जब अपने अहं को भगवान के चरणों में समर्पित कर दें और भगवान हमारे अहंकार को, हमारे मैं को नाप लें।

अब घाटे में कौन रहा – इन्द्र या बलि? देवता बड़े प्रसन्न हुए कि बलि छला गया, बहुत अच्छा हुआ। भगवान हमारे छोटे भाई हैं, उन्होंने हम लोगों का पक्ष लेकर दैत्यों को छल लिया। (वामन भगवान इन्द्र के छोटे भाई माने जाते हैं।)

परन्तु कौन बताये कि बलि छला गया या इन्द्र छला गया। वस्तुत: इन्द्र अपनी ही वृत्तियों के द्वारा छला गया, क्योंकि भगवान से भी उसने सम्पत्ति ही माँगी थी। दूसरी ओर बलि तो धन्य था। भगवान उसका सब कुछ लेकर उससे बोले – अब तुम मुझसे माँगो। बोलो, अब मैं तुम्हें क्या दूँ? बलि ने कहा – महाराज, मुझे आपका निरन्तर दर्शन होता रहे। बहुत बड़ी बात है। ईश्वर से सम्पत्ति माँगना तो एक वरदान है, पर यदि बलि के समान वृत्ति हो, तो भगवान से यही वरदान माँगे – प्रभो, जीवन में चाहे जो भी परिस्थिति आये, चाहे सुख आये, या दुख और संकट आये, चाहे मान आये, या अपमान आये, पर आप जरूर दिखाई देते रहें। भगवान ने कहा – मैं तुम्हें पाताल भेजता हूँ। और इन्द्र से बोले – तुम स्वर्ग पर अधिकार कर लो। इन्द्र बड़ा प्रसन्न है। परन्तु यह पाताल क्या है? – भगवान का, विराट् पुरुष का चरण है –

पद पाताल सीस अज धामा।
अपर लोक अँग अँग बिश्रामा।। ६/१५/१

भगवान इन्द्र से बोले कि तुम्हें इन्द्रपद चाहिए तो तुम स्वर्ग लौटो। और बलि को पाताल-लोक भेजने का अर्थ है कि पाताल तो मेरा चरण ही है। इसे मेरा पद छोड़कर अन्य कोई पद नहीं चाहिए, इसलिए इसको मैं अपना पद दे रहा हूँ। इस प्रकार बलि सचमुच ही धन्य हो गये, क्योंकि भगवान उनको निरन्तर दर्शन देते हैं और साथ ही उनके द्वारपाल भी बन गये। द्वारपाल यदि सजग हो, तो कोई चोर-डाकू आदि भीतर नहीं पैठ सकता। इसी प्रकार यदि भगवान हमारे द्वारपाल बन गये, रक्षक बन गये, तो हमारे अन्तर्जीवन में बुराइयों के प्रवेश की कोई सम्भावना नहीं रह जायेगी।

सच्चे अर्थों में दान की अपनी महिमा है, लेकिन परिपूर्णता तब है कि दान तो दिया जाय, पर व्यक्ति अपने को दानी न समझ बैठे। महाराज दशरथ के व्यक्तित्व में रामराज्य के संकल्प की वृत्ति आई। राम को राज्य देने की वृत्ति आई, बड़ी उदार वृत्ति आई। उनकी मूलभूत भूल यह है कि वे राम को एक व्यक्ति मानते हैं और स्वयं को राज्य का स्वामी मानते हैं। वे मानते थे कि मैं राम को राज्य देकर रामराज्य बनाऊँगा। इस सात्त्विक अहंकार में, इस स्वामित्व की धारणा में रामराज्य की एक भूमिका है और दूसरी भूमिका दुर्भाग्यवश अयोध्या में मन्थरा विद्यमान है। केवल लंका में ही नहीं, अयोध्या में भी – भले-से-भले व्यक्ति के अन्त:करण में भी यह भेदबुद्धि विद्यमान है। अलग-अलग सन्दर्भों में मन्थरा के कई अर्थ हैं। महाराज दशरथ की अपनी एक छोटी-सी दुर्बलता और मन्थरा की वृत्ति ने रामराज्य को स्थापित नहीं होने दिया। ❖ **(क्रमश:)** ❖

ईश्वर-प्राप्ति में ही सुख है

तुम रात को आकाश में कितने तारे देखते हो, परन्तु सूरज उगने के बाद उन्हें देख नहीं पाते। किन्तु इस कारण क्या तुम यह कह सकोगे कि दिन में आकाश में तारे नहीं होते! हे मानव, अज्ञान-अवस्था में तुम्हें ईश्वर के दर्शन नहीं होते, इसलिए ऐसा न कहो कि ईश्वर हैं ही नहीं।

इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर जो इसी जीवन में ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा नहीं करता, उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है।

पहले ईश्वर को पा लो, फिर धन कमाना; इसके विपरीत पहले धन कमाने की कोशिश मत करो। यदि तुम भगवत्प्राप्ति कर लेने के बाद गृहस्थी में प्रवेश करो, तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी।

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है, पर 'एक' को मिटा देने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' से ही शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक', फिर 'अनेक'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत्।

संसार में मनुष्य दो तरह की प्रवृत्तियाँ लेकर जन्मता है – विद्या और अविद्या। विद्या मुक्तिपथ पर ले जाती है और अविद्या संसार-बन्धन में डालती है। मनुष्य के जन्म के समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानो खाली तराजू के पलड़ों की तरह सम स्थिति में रहती हैं। पर शीघ्र ही मानो मनरूपी तराजू के एक पलड़े में संसार के भोग-सुखों का आकर्षण तथा दूसरे में भगवान का आकर्षण बैठ जाता है। यदि मन में संसार का आकर्षण अधिक हो, तो अविद्या का पलड़ा भारी होकर झुक जाता है और मनुष्य संसार में डूब जाता है; पर यदि मन में भगवान के प्रति अधिक आकर्षण हो, तो विद्या का पलड़ा भारी हो जाता है और मनुष्य भगवान की ओर खिंचता चला जाता है।

जिसकी जैसी भावना होगी, उसे वैसी ही प्राप्ति होगी। भगवान मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो भी माँगोगे, वही प्राप्त होगा। गरीब लड़का कड़ी मेहनत से पढ़-लिखकर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन-ही-मन सोचता है, "अब तो मैं मजे में हूँ। मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया हूँ। अब मुझे खूब आनन्द है।" ईश्वर भी कहते हैं, "तुम मजे में ही रहो।" किन्तु जब वह हाईकोर्ट का जज सेवानिवृत्त होकर पेंशन लेते हुए अपने बीते हुए जीवन की ओर देखता है, तो उसे लगता है कि उसने अपना सारा जीवन व्यर्थ ही गुजार दिया। तब वह कहता है, "हाय, इस जीवन में मैंने कौन-सा उल्लेखनीय काम किया?" तब भगवान भी कहते हैं, "ठीक कहते हो, तुमने किया ही क्या!" – ***श्रीरामकृष्ण***

नित्य गोपाल गोस्वामी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

कृष्णकमल गोस्वामी (१८१०-१८८८) 'बडे गोस्वामी' के नाम से अधिक परिचित थे। उन्होंने अपने असंख्य वैष्णव भजन और अनोखे सरस नाटकों द्वारा ढाका में वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उनके नाटकों में 'राइ उन्मादिनी' सर्वाधिक लोकप्रिय था। वे वैद्य जाति के थे और उनके पूर्वज श्री चैतन्य महाप्रभु के लीला-सहचर नित्यानन्द जी के शिष्य थे।

उनके सुरूप पुत्र नित्य गोपाल में बचपन से ही आध्यात्मिक रुझान दिखायी देने लगा था और जीवन के काफी प्रारम्भ में ही उसने अच्छे विद्वान् के रूप में ख्याति भी अर्जित कर ली थी। कोमल स्वभाव तथा धार्मिक रुचि का होने के कारण नित्यगोपाल आध्यात्मिक भूख से आकुल होकर उसके समाधान हेतु इधर-उधर भटकने लगा। इस खोज ने पहले उसे ब्रह्मसमाज में पहुँचाया, जो उसको सन्तुष्ट करने में पूरी तौर से असफल रहा। उल्टे वह और भी उद्विग्न हो उठा। एक मित्र की सलाह पर उसने नास्तिकों के एक दल में प्रवेश लिया, पर ईश्वर में गहरी आस्था होने के कारण वह उन लोगों के प्रतिकूल सान्निध्य को अधिक दिन नहीं सह सका। इसके बाद वह थियॉसाफिकल सोसायटी का सदस्य बना। उसके इस काल का अनुभव उसी के शब्दों में व्यक्त हुआ है – "मैं यह नहीं कह सकता कि इस संस्था के साथ जुड़े रहने से मुझे कोई लाभ नहीं हुआ।" तो भी उसने सांख्य और योगशास्त्र पढ़ना और उन पर विचार करना जारी रखा। इसी समय उसकी भेंट ढाका के ब्रह्मसमाज के तत्कालीन प्रमुख विजयकृष्ण गोस्वामी से हुई। आध्यात्मिक भूख तो थी ही और साथ ही परिवार के आर्थिक कष्टों ने भी नित्यगोपाल को काफी चिन्तित कर रखा था। विजयकृष्ण गोस्वामी से उसने अपनी मानसिक व्यथा के विषय में लम्बी चर्चाएँ कीं और ऐसी ही एक चर्चा के दौरान उसने दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में रहनेवाले परमहंस के बारे में पहली बार सुना।

विजयकृष्ण गोस्वामी के मुख से परमहंस रामकृष्ण की जीवनगाथा को सुनकर नित्यगोपाल मुग्ध हो उठे। वे उन दिनों ढाका (अब बँगला देश की राजधानी) के जगन्नाथ कॉलेज में व्याख्याता थे। उनके भीतर दक्षिणेश्वर के परमहंस के दर्शन की इच्छा जाग उठी, जो क्रमश: अधिकाधिक बलवती हो उठी। पहला सुयोग पाते ही वे सन्त के दर्शन के लिए कलकत्ते के समीप स्थित दक्षिणेश्वर जा पहुँचे। यह घटना २६ नवम्बर, १८८३ के कुछ महीने बाद की होगी। इसी दिन श्रीरामकृष्ण ने मणि मल्लिक के यहाँ उत्सव में भाग लिया था और इसके कुछ बाद ही विजयकृष्ण गोस्वामी ने ढाका के ब्रह्मसमाज का कार्यभार सँभाला था। उन्हीं दिनों नित्यगोपाल विजयकृष्ण के निकट सम्पर्क में आये थे।[१]

सम्भवत: १८८४ ई. के मध्य में नित्यगोपाल की श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई थी। श्रीरामकृष्ण से पहली भेंट के विषय में जो सर्वाधिक प्रसिद्ध जनश्रुति है, तदनुसार नित्यगोपाल जब दक्षिणेश्वर पहुँचा, उस समय श्रीरामकृष्ण दोपहर का भोजन कर रहे थे। वे उसे देखकर इतने प्रसन्न हो उठे कि फिर भोजन करने में उनकी कोई रुचि नहीं रही और वे उसे अधूरा छोड़कर उठ गये।[२] पर नित्यगोपाल ने बाद में स्वयं बताया था कि जब वे पहली बार श्रीरामकृष्ण से मिले, उस समय वे दक्षिणेश्वर के अपने कमरे में तखत पर लेटे हुए थे।[३] श्रीरामकृष्ण दोपहर के भोजनोपरान्त विश्राम कर रहे थे। मानव के अन्त:करण को पढ़ लेने में कुशल श्रीरामकृष्ण ने तुरन्त ही इस नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को परख लिया। उससे सन्तुष्ट हो उन्होंने उसे धीरे-धीरे अपने पाँव दबाने के लिए कहा। इस अहैतुक कृपा को प्राप्त कर भावुक नित्यगोपाल इतना गद्‌गद हो उठा कि नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। श्रीरामकृष्ण ने भगवत-भक्ति विषयक और अपने दुर्लभ अनुभवों की बातों में मानो अपना हृदय ही उड़ेल दिया। बातचीत के दौरान वे कह उठे, "बिना गुरु की सहायता के कुछ नहीं होता। विजय को अपने गुरु मिल

१. गया के आकाशगंगा नामक स्थान में नानक पन्थ के सन्त से दीक्षा लेकर वहाँ कुछ समय साधना में बिताने के बाद विजयकृष्ण श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए २६ सितम्बर, १८८४ को ब्रह्मसमाज के मन्दिर में गये थे। विजयकृष्ण में होते हुए गहरे परिवर्तन को देख साधारण ब्रह्मसमाज के अधिकारियों ने उन्हें श्रीरामकृष्ण के प्रभाव से दूर रखने की दृष्टि से ढाका भेज दिया।

२. अक्षयकुमार सेन : 'श्रीश्रीरामकृष्ण पुँथि', (बँगला) (कलकत्ता, उद्‌बोधन कार्यालय), ५ वाँ संस्करण, पृष्ठ ३८७।

३. श्री नित्यगोपाल गोस्वामी ने स्वामी ब्रह्मानन्दजी की अध्यक्षता में २३ मई, १८९७ को हुई रामकृष्ण मिशन समिति की सभा में अपने संस्मरण सुनाये थे।

गये, इसलिए अब उसे आत्मिक शान्ति प्राप्त हो गयी है। तुम्हें योग और तप करने की क्या जरूरत? वह तो चुटकी में हो जायगा।'' नित्यगोपाल ने आगे याद करते हुए बताया था कि एक ऐसी भी स्थिति आयी थी, जब भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने उसकी छाती पर अपने चरण रख दिये थे।[४] वैसे नित्यगोपाल ठाकुर के चरण दबाते रहे। श्रीरामकृष्ण ने मृदु स्वर में उससे कहा, ''वह चुटकी में हो जायगा। क्या तुम जगन्माता की इच्छा को काट सकते हो?''

इन अप्रत्याशित बातों ने नित्यगोपाल को स्तम्भित कर दिया। अभी उसे आध्यात्मिक आनन्द की जो अनुभूति हुई, वह उसकी कल्पना से भी परे थी। इस संक्षिप्त-से परिचय ने उसके श्रद्धावान अन्त:करण पर अद्भुत रूप से गहरा प्रभाव डाला। श्रीरामकृष्ण की बातें, उनका रूप, भाव-भंगिमा, बोलने का ढंग और सर्वोपरि उनके व्यक्तित्व से विकिरित होते अकथनीय आकर्षण ने नित्यगोपाल को परमहंस के बारे में अति उच्च धारणा बनाने में सहायता दी।

विदा लेने के समय श्रीरामकृष्ण ने उसे पुन: दक्षिणेश्वर आने को कहा – विशेषकर मंगलवार और शनिवार को। नित्यगोपाल दक्षिणेश्वर पुन: आने की आकांक्षा लिये कलकत्ते लौट आया। दुर्भाग्य से अगले शुक्रवार की रात को उसे तेज बुखार हो गया। उसे भय लगने लगा कि वह अपने निश्चय के अनुसार दूसरे दिन सुबह दक्षिणेश्वर नहीं जा सकेगा। पर सुबह होते ही उसने अपनी पूरी इच्छाशक्ति का प्रयोग करके स्नान किया और दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़ा। श्रीरामकृष्ण उसे देख प्रसन्न हुए। इस अवसर पर नित्यगोपाल ने एकान्त में श्रीरामकृष्ण से निवेदन किया कि साधना के रूप में वह विशेष कुछ नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसमें वह सब निष्ठापूर्वक करने का यथेष्ट साहस नहीं है। इस पर श्रीरामकृष्ण ने उसके सीने पर अपनी दाहिनी हथेली रखकर कहा, ''तुम्हें कुछ नहीं करना होगा। मैं तुममें हूँ और तुम मुझमें हो।''

इसके बाद श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उसके हृदय में खमीर की भाँति तब तक कार्य करने लगा। खमीर अपना कार्य चुपचाप, अज्ञात किन्तु निश्चित रूप से करता रहा, जब तक कि उसका समूचा व्यक्तित्व ही नहीं बदल गया। इस प्रक्रिया ने अपना समय अवश्य लिया, परन्तु वह ठाकुर के द्वारा निर्धारित विधि से ही सम्पन्न हुई।

इसी बीच श्रीरामकृष्ण को गले का कैंसर हो गया। जैसे ही उनकी प्राणलेवा बीमारी की खबर ब्रह्मसमाज के समाचार-पत्रों में छपी, नित्यगोपाल उनका दर्शन के लिए कलकत्ते गया। उसे पता लगा कि अच्छी चिकित्सा और सेवा-शुश्रूषा की दृष्टि से श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते में बलराम बोस के ५७ रामकान्त बोस स्ट्रीट वाले घर में लाया गया है। अगस्त १८८५ के तीसरे सप्ताह के एक रविवार को अपराह्न में नित्यगोपाल उनका दर्शन करने गया।[५] जैसा कि श्रीरामकृष्ण का स्वभाव था, वे अपनी सारी पीड़ा को भूलकर उपस्थित लोगों को ईश्वर के विषय में बताते हुए साधना के लिए प्रेरणा दे रहे थे। युवक विद्यार्थी शरत् (जो बाद में स्वामी सारदानन्द हुए) भी परमहंस का दर्शन करने आया हुआ था। उसका मित्र बैकुण्ठनाथ सान्याल भी उपस्थित था। इसके अलावा, गिरीशचन्द्र घोष, कालीपद घोष, 'म', बलराम बोस एवं उनके परिवार के सदस्य तथा कुछ अन्य लोग उपस्थित थे। दूसरी मंजिल के हॉल के पश्चिमी कोने में विराजमान श्रीरामकृष्ण का मुखमण्डल आध्यात्मिक भाव से दीप्त था। थोड़ी देर तक श्रीरामकृष्ण से धार्मिक चर्चा होने के बाद गिरीशचन्द्र और कालीपद घोष ने मिलकर एक मधुर भजन गाया, जिसका भाव था –

ओ निताई ! मुझे जोर से पकड़ लो
नहीं तो मैं बह जाऊँगा !
लोगों को हरिनाम देते-देते
मैंने अपनी प्रेम-सरिता में ऊँची लहर उठा ली है और
अब उसकी उत्ताल तरंगों में मैं असहाय बहा जा रहा हूँ,
ओ निताई, मैंने अपने ही हाथों अनुबन्ध लिख दिया था
जिसके 'आठ मित्र' गवाह हैं। (अब)
मैं कैसे अपने प्रेम-उधार देनेवाले का ऋण चुकाऊँ?
क्योंकि मेरी सारी पूँजी चुक गयी है,
फिर भी ऋण चुकता नहीं हुआ है।
अब तो ऋण को चुकाने को
मैं स्वयं ही नीलाम हुआ जा रहा हूँ।

गीत की पंक्तियों द्वारा व्यक्त होनेवाली व्यथा से प्रभावित होकर श्रीरामकृष्ण गहरी भावसमाधि में डूब गये और उन्होंने अपना दाहिना पैर उठाकर सामने की ओर फैला दिया। सामने ही बैठे हुए नित्यगोपाल ने बड़ी सावधानीपूर्वक उसे सँभालते हुए अपनी छाती से लगा लिया। इस स्पर्श का

४. वैज्ञानिक डॉ. महेन्द्रलाल सरकार तथा अन्य संशयी लोग ऐसी घटनाओं को स्वीकार नहीं करते थे। २५ अक्तूबर, १८८५ को ऐसे ही एक प्रसंग में श्रीरामकृष्ण ने अपने आचरण की व्याख्या करते हुए कहा था, ''आवेश में न जाने क्या हो जाता है, 'मैं' फिर 'मैं' नहीं रह जाता। इस अवस्था के बाद फिर गिनती नहीं गिनी जा सकती।'' ('श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग २, नागपुर, सं. १९९९, पृष्ठ १०५८)

५. बैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्णलीलामृत' (बँगला) (कलकत्ता द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १७८। श्री सान्याल ने घटना की तारीख नहीं दी है। पर रामचन्द्र दत्त के अनुसार श्रीरामकृष्ण अगस्त १८८५ के मध्य में एक शनिवार को दक्षिणेश्वर छोड़कर बलराम बोस के यहाँ रहने आ गये थे। देखें 'श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेवेर जीवनवृत्तान्त' (बँगला) कलकत्ता : उद्बोधन कार्यालय, ७ वाँ संस्करण, पृष्ठ १६४।

उस पर अद्‌भुत प्रभाव हुआ। श्रीरामकृष्ण के अधरों पर दिव्य मधुर मुस्कान खेल रही थी, जबकि भाव में डूबे हुए नित्यगोपाल के मुँदे नेत्रों से आँसुओं की झड़ी उसके कपोल और छाती को भिगो रही थी। वहाँ पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से मोहित-सा मानो सच्चिदानन्द-सागर में डूबकर पूरी तरह भावविभोर हो गया था।

भजन पूरा हुआ, श्रीरामकृष्ण अर्धबाह्य दशा को प्राप्त हुए। कुछ देर बाद उन्होंने नित्यगोपाल तथा उपस्थित भक्तों से प्रेमविभोर होकर कहा, "बोलो श्रीकृष्ण चैतन्य, बोलो श्रीकृष्ण चैतन्य, बोलो श्रीकृष्ण चैतन्य।" इस प्रकार नित्यगोपाल तथा अन्य भक्तों के द्वारा तीन बार इस पवित्र नाम का उच्चारण करवाकर श्रीरामकृष्ण धीरे-धीरे साधारण भूमि पर लौटे।[६] उसके थोड़ी देर बाद वे दूसरों से धर्मचर्चा करने लगे। हृदय को आलोड़ित करनेवाले श्रीरामकृष्ण के शब्द तथा अपनी सहजता से मुग्ध करनेवाले उनके उपदेश और दृष्टान्त सुननेवालों के सामने उनके आध्यात्मिक जीवन के अद्‌भुत अनुभवों को प्रकट करने लगे।

इस महत्त्वपूर्ण घटना के बाद नित्यगोपाल को जो अद्‌भुत अनुभव हुआ था, उसका वर्णन उन्होंने १८९७ में रामकृष्ण मिशन समिति की बैठक में किया था। उन्होंने जो बतलाया था, वह संक्षेप में इस प्रकार है – "मैं फिर वापस ढाका चला गया था। उस समय मैं भयंकर मानसिक उद्विग्नता से परेशान था। ढाका के बाहरी क्षेत्र से लगा एक जंगल था, जिसका मुसलमान लोग कब्रिस्तान के रूप में उपयोग करते थे। एक दिन मैंने वहाँ निरुद्देश्य घूमते हुए कुछ कदम की दूरी पर एक व्यक्ति को बैठे देखा। मैंने उससे पूछा, 'तुम यहाँ क्या कर रहे हो?' मुझे मालूम था कि उस ओर लोग मैना पक्षी पकड़ने के लिए आते रहते हैं, इसलिए मैंने उस व्यक्ति को भी वैसा ही समझा। उसने मुझे अपने समीप बुलाया, मानो कुछ बताने को आतुर हो। उसकी बातें सुनकर मेरे सारे संशय दूर हो गये। वह जाने के लिए उठा। जरा सा आगे बढ़कर वह पलटकर मुझसे उसी करुणापूर्ण स्वर में बोला, 'वत्स नित्यगोपाल, जो तुम्हें मिला है, उसे गँवाना मत।" इसके बाद वह वहाँ से चला गया। मैं विजय बाबू (विजयकृष्ण गोस्वामी) के पास गया और उन्हें सब कुछ बताया। विजय बाबू बोले कि इस प्रकार उन्हें भी उनके (श्रीरामकृष्ण) दर्शन हुए हैं। उस दिन मुझे पूरी रात सपने दिखायी देते रहे, जिसमें – कभी मैं उनसे कुछ कह रहा था तो कभी वे मुझसे कुछ बोल रहे थे; इस प्रकार मुझे निरन्तर दिव्य आनन्द मिल रहा था। सुबह उठने पर मुझे एक संन्यासी मिले। उन्होंने मुझसे कुछ खाने को और ओढ़ने के लिए मेरी चादर माँगी। जब मैंने उनकी जरूरत की चीजें उन्हें दे दी, तो उन्होंने मेरे सिर पर अपने चरण स्थापित करके मुझे आशीर्वाद दिया। उसके बाद फिर मैंने उन्हें वहाँ और नहीं देखा।"[७]

श्रीरामकृष्ण का अदम्य प्रभाव नित्यगोपाल के व्यक्तित्व में गहरा भिद गया। विद्वान् नित्यगोपाल धीरे-धीरे एक गूढ़ आध्यात्मिक साधक में ढल रहे थे – दिव्यता रूपी देवालय के एक उत्साही पथिक बन रहे थे। निष्ठावान होने के कारण श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व तथा आदर्शों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होते चले जा रहे थे। धीरे-धीरे जिस अभिनव सन्देश ने उनके जीवन को बदल दिया था और जो विश्व-शान्ति के लिए नयी आशा लेकर आया था, उसके प्रचार-प्रसार के वे एक सुयोग्य माध्यम बन गये।

जब श्रीरामकृष्ण 'काशीपुर के उद्यान-भवन' में निवास कर रहे थे, उन दिनों उनका चित्त भक्तों के प्रति सहानुभूति तथा उनकी मंगल-कामना से परिपूर्ण था। उनके लीला-संवरण के कुछ दिन पूर्व नित्यगोपाल उनके दर्शन के लिए आये। भेंट के अन्त में श्रीरामकृष्ण ने उनकी छाती का अपने हाथ से स्पर्श किया और फिर हाथ उठाकर, कहा, "अच्छा, मैं जा रहा हूँ।" यही उन दोनों के बीच अन्तिम भेंट थी।[८]

परवर्ती जीवन में हम नित्यगोपाल को श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में बहुत सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में पाते हैं। रामकृष्ण मिशन समिति की १३ बोसपारा लेन, बागबाजार, कलकत्ता में होनेवाली साप्ताहिक सभाओं में वे बड़े उत्साह से भाग लेते और कभी अपने व्याख्यानों, तो कभी भजन गाकर समागत लोगों का मनोरंजन करते। १८९९ ई. में श्रीरामकृष्णदेव के जन्मदिन पर ढाका में नित्यगोपाल गोस्वामी के मकान में ही रामकृष्ण मिशन समिति की एक शाखा शुरू की गयी। इस अवसर पर नित्यगोपाल ने श्रीरामकृष्ण के प्रमुख सन्देश "अद्वैत ज्ञान को आँचल में बाँधकर, जो इच्छा सो करो" पर अपना लिखित व्याख्यान पढ़ा था।[९]

श्रीरामकृष्ण के अन्य भक्त मणिभूषण गुप्त १९१२ ई. से

---

६. बैकुण्ठनाथ सान्याल ने अपने ग्रन्थ 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' में समझाया है कि पवित्र मंत्र को तीन बार क्यों उच्चरित किया जाता है। शास्त्र कहते हैं कि शिष्य के तीनों – जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति रूपी तीनों मानसिक धरातलों के शुद्धीकरण हेतु गुरु द्वारा पवित्र मंत्र को तीन बार उच्चारित कराना चाहिए। सान्याल लिखते हैं कि श्रीरामकृष्ण के अनुसार भारी मालवाहक नौका को खेनेवाले लंगर लगानेवाले बाँस को तीन बार जोरों से ठोकते हैं, ताकि वह नदी के तल में मजबूती से गड़ जाय, इसी प्रकार पवित्र मंत्र की शक्ति भी तीन बार देनी चाहिए।

७. रामकृष्ण मिशन समिति की २३ मई, १८९७ को हुई ५वीं सभा।
८. मणिभूषण दासगुप्ता : 'स्मृतिर सौरभ', उद्बोधन, वर्ष ४६, अंक ९, पृ. ३९०; **९.** ढाका से स्वामी विरजानन्द का पत्र : देखे 'उद्बोधन', भाग १, अंक ६, पृष्ठ १८७

१९१९ ई. तक नित्यगोपाल के ढाकावाले मकान में जाकर बीच-बीच में उनसे भेंट करते रहते थे। तेजस्वी, गौरवर्ण, मध्यम कद, स्वस्थ शरीर और श्वेतधवल केशदाढ़ीवाले गोस्वामी नित्यगोपाल आकर्षक तथा ऋषिसदृश दिखायी देते थे। हर रविवार को उनकी उपस्थिति में भजनों का कार्यक्रम होता। एक दिन वे भावविभोर होकर उठ खड़े हुए और उनकी देह श्रीकृष्ण की त्रिभंग मुद्रा में तीन स्थानों पर मुड़ गयी। धोती खिसक गयी और उनका बाह्य ज्ञान जाता रहा वे श्रीकृष्ण के चिन्तन में गहरी भावावस्था में डूब गये थे।[१०]

नित्यगोपाल श्रीरामकृष्ण के उन विशिष्ट भक्तों में से थे, जिनके भीतर उन्होंने हर भक्त के भाव के अनुकूल मार्गदर्शन करके उनकी आध्यात्मिक चेतना को जगा दिया था। फिर, वे उन चुने हुए भक्तों में से थे, जिन लोगों को श्रीरामकृष्ण की कृपा से बार-बार ईश्वर के साक्षात्कार का अनुभव मिला था। तथापि अन्तिम निष्कर्ष, अन्य लोगों के समान ही यह था कि नित्यगोपाल गोस्वामी ने अन्त में यह अनुभव किया कि श्रीरामकृष्ण उस दिव्य कृपा के केन्द्रबिन्दु हैं, जहाँ से विभिन्न आध्यात्मिक अनुभवों की त्रिज्याएँ दिव्यता की परिधि की ओर जाती हैं।

१०. 'स्मृतिर सौरभ', पृष्ठ ३८९।

वह जीवन किस काम का

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

**निराकार परमेश्वर ने ही
रूप धरा श्रीराम का।
जो न राम का हुआ जगत में,
वह जीवन किस काम का ?**

**राम रमापति मानवता के
मंगलमय श्रृंगार हैं,
रमे हुए जो प्रति कण-क्षण में,
सबके सर्वाधार हैं,
निर्गुण निराकार हैं फिर भी
प्रकट सगुण-साकार हैं।
करुणावरुणालय पुरुषोतम
परब्रह्म साकार हैं।**

**अजर-अमर अक्षुण्ण सुयश है
उनके पावन नाम का,
जो न राम का हुआ जगत में,
वह जीवन किस काम का?**

**अभिमानी जन रामद्रोह के
नव वितान नित तानते,
महा मोहवश राम-सुयश को
जान-जान अनजानते,
रावण के सम सदा स्वयं को
वे अखिलेश्वर मानते,
अपने भीषण अहंकार के
अनुष्ठान नव ठानते।**

**राम-विमुख जन का जीवन तो
जग में सदा हराम का,
जो न राम का हुआ जगत में,
वह जीवन किस काम का ?**

**निराकार साकार न हो, तो
कर सकता उपकार क्या,
प्रकट काष्ठगत अग्नि न हो, तो
कर सकता उजियार क्या,
माँ की ममता बने न पय,
तो बालक के हित प्यार क्या,
निराकार घृत हुआ दूध से
प्रकट नहीं साकार क्या?**

**पार नहीं पा सकता कोई
सदा सत्य सुखधाम का,
जो न राम का हुआ जगत में,
वह जीवन किस काम का ?**

**राम-नाम का संबल सबको
भवसागर से तारता,
राम-भक्त तो कलियुग से भी
नहीं कभी भी हारता,
राम-सुयश-रस पीकर मानव
अपना जन्म सँवारता,
धन्य-धन्य 'मधुरेश' वही,
जो राम-नाम उर धारता।**

**राम-नाम रसपान करो ! जो
जग में है बिन दाम का,
जो न राम का हुआ जगत में,
वह जीवन किस काम का ?**

सारगाछी की स्मृतियाँ (२)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

किसी संन्यासी ने प्रश्न पूछा – उस समय के समाज के विषय में सुनता हूँ कि बहुत से गुणी लोग थे। अभी सब सतही विद्वान हैं, उनमें गहराई नहीं है।

स्वामी प्रेमेशानन्द – "एक दिन सुयोग मिलने पर मैं तुम्हें उस समय के समाज के बारे में बताऊँगा। उसे सुनकर कान पर हाथ रखकर भाग जाओगे। सभी विद्वान थे, किन्तु हँसी-मजाक-बकवास में अपना समय व्यतीत करते थे। वैसा नहीं होने से ठाकुर आये क्यों? तुम्हें दो श्लोक सुना रहा हूँ, उसका अर्थ बताओ तो, देखें। विद्वान लोग यही सब लेकर मग्न रहते थे। कहाँ – भगवान ! कहाँ वैराग्य ! –

"केशवं पतितं दृष्टवा द्रोण हर्षमुपागताः ।
रुदन्ति पाण्डवाः सर्वे हा केशव हा केशव !!"

क = जल, पांडव = शृंगाल, द्रोण = कौवा। अर्थात् जल में शव को देखकर कौवे खुश हो गये। लेकिन शृंगाल – सियार विलाप करने लगे – हाय! हाय! शव पानी में है! (अर्थात् हमलोग उसे नहीं खा पायेंगे) !"

सेवक – महाराज ! आपने दूसरा श्लोक तो नहीं कहा?

महाराज – "हाँ, तुम्हें याद है, देख रहा हूँ ! –

"हनुमता हताराम सीताहर्षमुपागतः ।
रुदन्ति राक्षसाः सर्वे हाराम हाराम !!"

आराम = बगीचा! हनुमान के द्वारा अशोक वाटिका को ध्वंश करने पर सीताजी को प्रसन्नता हुई! और राक्षस सब "हाय बगीचा, हाय बगीचा' कहकर रोने लगे।

११-१–५८

महाराज – "मैं तो स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर बकते ही जा रहा हूँ। क्या तुम कुछ समझ रहे हो? जानते हो उस दिन एक साधु क्या कह रहे थे? वे कह रहे थे, "ब्रह्म ब्रह्म' कहकर प्रेमेश महाराज लड़के के कान का कीड़ा मार देंगे। अन्त में वह लड़का भाग जायेगा। इसीलिये पूछ रहा हूँ कि क्या तुम समझ पा रहे हो? तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं हो रहा है।"

सेवक – क्या कष्ट होने पर मैं रहता?

महाराज – बताओ तो देखूँ, तुम कितना समझ सके हो?

सेवक – तीन प्रकार के शरीर होते हैं – स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। सूक्ष्म शरीर में भूत-प्रेत-योनि मिलता है। अथवा अधिकांश बेहोश होकर घूमते रहते हैं। कारण शरीर में बोध होता है कि मैं प्राण नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ और शरीर नहीं हूँ। मैं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हूँ। इसका मरण भी नहीं है और जन्म भी नहीं होता है।

प्रश्न – एक आदमी की मृत्यु हो गयी। हमलोग समझते हैं कि वह व्यक्ति अब नहीं रहा। तब वैसे लोग या वैसी वस्तुएँ कहाँ रहती हैं?

महाराज – "शरीर में जो चैतन्य रहता है, वह विभिन्न शरीर में विभिन्न परिमाण में प्रकाशित होता है, अर्थात् मनुष्य में होश, समझने की शक्ति अधिक है, कुत्ते में कम है। किसी मनुष्य के हाथ में कटारी रहने से जो कुछ भी काट सकता है, बड़ी कटारी रहने से बहुत अधिक काट सकता है या नहीं? वैसे ही मनुष्य का शरीर है, पशु आदि का शरीर है। चैतन्य और चेतना दोनों पृथक वस्तु है।"

११-१०-५८

महाराज – "यदि तुम चैतन्य और चेतना में भेद समझ सकते हो, तो मैं निश्चिन्त होकर मर सकता हूँ। थोड़ा बताओ तो कि चैतन्य और चेतना क्या है?"

सेवक – चैतन्य जब पंचकोशों के द्वारा अभिव्यक्त होता है, तब चेतना हो जाता है। अर्थात् हमारे इस शरीर के भीतर जो होश-बोध है, चेतना है, अर्थात् 'मैं मैं' करना ही चेतना है। शरीर के स्पर्श करने से अनुभव करता हूँ कि तुम्हारे शरीर का स्पर्श हुआ है। यही चेतना है। किन्तु यह चेतना हमारे अन्दर स्थित चैतन्य के कारण है। चेतना चैतन्य का अल्प प्रकाश मात्र ही है।

महाराज – "ठीक कहा है। हाँड़ी में भात पका हुआ है। ऊपर देख रहा हूँ कि भात गरम है। क्योंकि अग्नि में दहिका-शक्ति – जलाने की शक्ति है। यहाँ दाहिका-शक्ति चैतन्य है और गरम होना चेतना है। यह चैतन्य ही सच्चिदानन्द है। प्रत्येक जीवात्मा वह सच्चिदानन्द ही है।

"उसी अखण्ड चैतन्य ने इच्छा की कि अनेक होऊँगा। तब वे अनेक हो गये। जैसे समुद्र का पानी जमकर बर्फ बन

गया है। बर्फ भी उसी जल की अन्य रूप में अभिव्यक्ति है। बर्फ जानता है कि वह उस जल का ही प्रकाश है। इसके बाद वह जल रूपी जीवात्मा स्वयं को माया के आवरण से ढँक लेती है। तब तन-मन-प्राण-बुद्धि में प्रवेश कर, वह भूल जाती है कि वह जीवात्मा है। वह अपने को मनुष्य मानने लगती है। जीवन में धक्का खा-खाकर सोचती है कि इससे निकलने का अब कोई मार्ग नहीं है। उसके बाद से ही वैराग्य आरम्भ हो जाता है। तत्पश्चात् ईश्वर चिन्तन होने लगता है।''

सेवक – आवरण और विक्षेप के विषय में थोड़ा कहेंगे?

महाराज – ''मान लो, एक नदी के तट पर दो लड़के खेल रहे हैं। अचानक एक लड़का बिल्कुल किनारे चला गया। दूसरा कदम रखते ही वह गहरे और तेज धारा में डूब जायेगा। मैं बहुत दूर से निश्चित होकर बैठकर यह दृश्य देख रहा हूँ। लड़के को उस स्थान पर, उस अवस्था में देखते ही हमारे हृदय में घोर शंका उत्पन्न हुई और मैं चीत्कार कर उठा। अर्थात् मैं अपना अस्तित्व भूलकर लड़के के अस्तित्व के साथ स्वयं को मिला दिया हूँ। अर्थात् कुछ देर के लिये मैं जिस सुरक्षित स्थान पर हूँ, उस बोध को भी ढँक दिया हूँ और लड़के के साथ तादाम्य, एक हो गया हूँ। इसको ही कहते हैं आवरण और विक्षेप।

''तुम्हारे पास एक सुन्दर टार्च है। कुछ दिन पहले तुमको कोई दिया है। अचानक एक दिन शाम को किसी दूसरे के हाथ में वैसा ही टार्च देखकर तुम्हारे मन में लगेगा कि मेरा टार्च उसके हाथ में कैसे गया? इस क्रिया में कैसा आवरण और विक्षेप का खेल हुआ। पहले अपना टार्च पाना, अर्थात् उस टार्च के दो दिन पास रहने से ही उस टार्च के साथ एकात्म होकर भूल गये हो कि तुम्हारा वैसा टार्च नहीं था। दूसरा वैसा टार्च और भी हो सकता है, यह भी भूल गये हो। ठीक वैसे ही हम लोग इस देह को भी अपना मान लेते हैं। क्योंकि पूर्व-पूर्व जन्मों में कितने प्रकार का शरीर धारण किया था। प्रत्येक बार अपने स्वरूप को भूलकर शरीर के सुख में सुखी और दुख में दुख का अनुभव किया हूँ।''

प्रेमेश महाराज रसमय, सरस व्यक्ति थे। शास्त्र-चर्चा के बीच में हमलोगों के साथ हँसी-मजाक भी करते थे। एक घटना याद आ रही है। किसी-किसी व्यक्ति की बुरी आदत होती है – छिपकर दूसरे की बात सुनने की। एक सज्जन ने प्रेमेश महाराज को एक चटाई दिया था। महाराज के पास पहले से ही एक था, इसलिये उन्होंने दूसरी चटाई एक ब्रह्मचारी को दे दिया। उसके कमरे में बीच-बीच में कोई श्रीनाथ के साथ मिलने जाता था। श्रीनाथ खेती-बारी में काम करता था। एक सज्जन ने उस कमरे में जाकर देखा कि ब्रह्मचारी के बिस्तर पर चटाई है। वे सज्जन हाथ से छू-छूकर देख रहे हैं। श्रीनाथ ने कहा –''प्रेमेश महाराज ने उसे दिया है।'' तब वे सज्जन कह उठे – ''तभी कहता हूँ। ब्रह्मचारी होकर कैसे ये सब उपयोग करता है।'' प्रेमेश महाराज को सब बात इस व्यक्ति ने सुना दिया। महाराज भी हम लोगों के जाने पर कहते ''ब्रह्मचारी कैसे ये सब उपयोग करता है।'' हम सभी हो-हो करके हँसने लगते थे।

महाराज जी एक दिन हमलोगों के पास अपने जीवन की कुछ घटनायें बता रहे हैं। कह रहे हैं – ''शिलेट में गोपेश, सौम्यानन्द, देवेश और मैं ठाकुर के नाम में आनन्द से मतवाले हो जाते थे। एक सज्जन गम्भीर मुख से एकदिन सौम्यानन्द से कह रहे हैं – ''तुम लोग 'हाइस्य ना, हाइस्य ना' – अर्थात् तुमलोग हँसो मत, हँसो मत। तुमलोग ब्रह्मचारी हो हाइस्य ना।'' हमलोग उसे लेकर हँसी करते – ''तुम लोग हाइस्य ना, हाइस्य ना।''

महाराज के साथ एक दिन शास्त्र-चर्चा हो रही है, तिथि याद नहीं है।

महाराज – ''तुम्हें इतनी देर तक मैं अवस्थात्रय और साक्षी के विषय में कहा। तुम क्या समझे, थोड़ा बोलो तो।''

सेवक – सामान्य व्यक्ति की तीन प्रकार की अवस्था होती है – जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था में हमलोग कर्म करते हैं। उस समय लोगों का अन्नमय और प्राणमय कोष सजग रहता है। अन्नमय और प्राणमय कोष कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा कार्य करता है। स्वप्नावस्था में मन और बुद्धि कार्य करते हैं। मनोमय और विज्ञानमय सजग रहता है, किन्तु स्थूल जगत का कार्य आवृत्त रहता है। सुषुप्ति अवस्था में प्राण को छोड़कर अन्य कोई वस्तु क्रियाशील नहीं रहती। 'मैं' – अहंकार बिल्कुल नहीं जैसा हो जाता है। मन बुद्धि में लय हो जाता है। बुद्धि अज्ञान में लय हो जाती है। मैं मूल आत्मा का अनुभव करता हूँ।

महाराज – ''देख ही रहे हो, मेरी क्रमशः तीन अवस्था हो रही है। मैं किसी में भी स्थिर नहीं रहता। इसलिये मैं तीनों अवस्थाओं का साक्षी हूँ। तब प्रश्न उपस्थित होता है – मैं कौन हूँ?''

सेवक – क्यों हम अपना स्वरूप नहीं पहचान पा रहे हैं?

महाराज – ''जैसा हम सोचते हैं, हमारी बुद्धि में भी वैसा ही भाव उत्पन्न होता है और मन को उधर संचालित करता है। कितने युगों से हमलोगों ने बुद्धि को आहार-निद्रा और मैथुन में परिचालित किया है, इसलिये उसका उधर जाने का अभ्यास हो गया है। अब पुनः यदि उसे अच्छी दिशा में कई वर्षों तक लगाया जाय, तो वह फिर से अच्छी दिशा में ही जायेगी। वह स्वयं जड़ है। उसको जैसा चलाओगे, वैसा चलेगी।

अपनी इच्छा से ही शरीर और मन के ऊपर नियंत्रण किया जा सकता है। यदि अँग्रेजों से बचना है, तो अरविन्द को पांडिचेरी में जाकर आश्रय लेना होगा। उसी प्रकार यदि मन को काम-क्रोध से बचाना है, तो भगवान की शरण लेनी पड़ेगी।

सेवक – क्यों?

महाराज – क्योंकि जिस व्यक्ति ने काम, क्रोध और लोभ पर विजय प्राप्त किया है, उन्होंने किस प्रकार उन पर विजय प्राप्त किया, वह जानना और उसका अनुसरण करना चाहिये। इसके द्वारा भी ईश्वर का ध्यान और चिन्तन करना होता है।

१७-१०-५८

महाराज – दो वस्तुयें हैं - एक जड़ और दूसरी चेतन। बोलो तुमने क्या समझा?

सेवक – वृक्ष apparently जड़ प्रतीत होता है। किन्तु उसमें भी चेतना है या होश है। (होश के संबंध में महाराज जी ने पहले ही कहा था।) जैसे लज्जावती पौधे का स्पर्श करते ही वह सिकुड़ जाती है। जैसे पपीता का पेड़ प्रकाश की खोज में उठकर खड़ा है।

महाराज – "हाँ देखते नहीं हो कि पेड़ ऊपर की ओर अपनी शाखा-प्रशाखाओं का विस्तार कर श्वास ले रहा है। वैसे ही जमीन में जीभ के समान छोटी-छोटी जड़ें मिट्टी से रस खींचकर पी रही हैं।

सेवक – इसका अर्थ है कि चेतना ही प्राण के द्वारा कार्य करती है। अर्थात् चेतना नहीं रहने से प्राण का भी कोई कार्य नहीं रहता, प्राण भी कोई कार्य नहीं कर पाता।

महाराज – एक बीज मिट्टी में डालकर बोकर देखना कि कैसे दो जड़ें निकलती हैं। चीटी से लेकर मनुष्य तक सबमें वही चेतना है। वही अखण्ड चैतन्य स्वयं इच्छा करके चीटी के जीवन का आनन्द लेने के लिये चीटी के शरीर में प्रवेश किया। किन्तु उसमें प्रवेश कर भूल गया कि वह अखण्ड चैतन्य है। वह अपने को चीटी समझ लिया। इस प्रकार ८४ लाख योनियों के बाद मनुष्य जन्म हुआ। उसके बाद १०० जन्मों के बाद आघात पाते-पाते संसार में सुख न पाकर दूसरा कुछ खोजने लगा, अपने आपको समझने की चेष्टा करने लगा। यदि ठाकुर नहीं आते, तो हमलोगों को और अधिक १०० जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

सेवक – "योगक्षेमं वहाम्यहम्" कैसे होता है?

महाराज – बहुत सरल उत्तर है। मान लो एक साधु क्लान्त और भूख से पीड़ित है। भोजन प्राप्ति की कोई आशा नहीं है, अचानक एक दल पिकनिक मनाने आया। उन लोगों ने साधु को तृप्ति पूर्वक भोजन कराया।"

२२-१०-५८

एक मजदूर एक सुन्दर वस्त्र पहन कर आश्रम के पास से जा रहा है। उसे देखकर महाराज कहने लगे – "देश जगा है। किन्तु देश में धन का अभाव है, देश में बड़ा कष्ट है! किन्तु उन्नति होगी ही, देश जगेगा ही। एक पुराने टूटे भवन की मरम्मत कराना सहज नहीं है। नया विचार चाहिये। संयम की बात कहने पर कहता है, ईश्वर के आज्ञा की उपेक्षा होगी। इसी सड़े-बासी समाज में स्वामीजी का विचार प्रवेश कराना होगा। हमारे पुरोहित गण अब्राह्मणों को अस्पृश्य करके रखे थे। ब्राह्मणत्व जिस किसी में भी रह सकता है। ठाकुर के मंदिर में ऐसे व्यक्ति को देना होगा, जिसमें ब्राह्मण का संस्कार हो, आभिजात्य – केवल ऊँच कुल में जन्म लिया हुआ ब्राह्मण नहीं। एक बार स्वामी शिवानन्द जी महाराज ने एक ब्रह्मचारी को कहा था – "जाओ भोग ले आओ।" उसने कहा – "मेरा ब्राह्मण का शरीर नहीं है।" तब महाराज बोले – "क्या कहा, ब्राह्मण के घर में जन्म नहीं होने से क्या ब्राह्मण नहीं होता?" आश्रम का उत्तरदायित्व लेना बहुत सरल नहीं है। उससे सबके आध्यात्मिक जीवन का दायित्व लेना पड़ता है। केवल अच्छा व्याख्यान देने और दो-चार पंक्ति अच्छी अंग्रेजी लिखने से नहीं होगा। जिस आश्रम में रहोगे, वहाँ की परिस्थिति का विचार करना होगा। अभी भी इन सबके प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं हुई है। सिलेट को केन्द्र करके इस क्षेत्र में एक भावान्दोलन आरम्भ हुआ था। संन्यासियों के साथ गृहस्थों का अधिक मेल-जोल नहीं रहेगा। भोजन के सम्बन्ध में भी संन्यासी का मान-अपमान, ये सब क्या है? समाज में प्रतिष्ठा ही यदि उद्देश्य हो, तो उसका संन्यासी होना उचित नहीं है। धर्म कहाँ है? नहीं, धर्म तो बाल में है! देखो, मुसलमान, ईसाई, हिन्दूओं के ऋषि-मुनि सभी किसी-न-किसी रूप में बाल रखते ही हैं। किन्तु, साधु लोग बाल नहीं रखते हैं। बात समझ रहे हो? अन्तर्जीवन छोड़कर सभी लोग केवल खाल, चमड़े को ही लेकर खींचा-खींची कर रहे थे, तभी तो ठाकुर ने आकर एक नये आदर्श की स्थापना की।"

❖ (क्रमशः) ❖

ईर्ष्या की प्रवृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य के अन्त:करण में एक ऐसी भी प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह दूसरों की सफलता देखकर अपने भीतर जलन का अनुभव करता है। इसे 'ईर्ष्या' कहकर पुकारा गया है। यह एक मानसिक रोग है, जो मनुष्य मन को सन्तप्त करता रहता है। शरीर को सन्तप्त करने वाला रोग तो उपचार से ठीक हो जाता है, पर ईर्ष्या का उपचार सहज नहीं है। शरीर में ताप पैदा करने वाले रोग को रोगी अनुभव करता है और फलस्वरूप वह अपने को अस्वस्थ समझ उसके उपचार के लिए स्वयं चेष्टाशील होता है। पर ईर्ष्या ऐसा रोग है कि रोगी अपने को अस्वस्थ ही अनुभव नहीं करता, फलत: उसे दूर करने की चेष्टा का उसमें सर्वथा अभाव होता है। यही उस रोग को विकट बना देता है। रोग को दूर करने के लिए दो बातें आवश्यक होती हैं - एक तो यह अनुभव करना कि 'मैं रोगी हूँ' और दूसरी, उसे दूर करने के लिए चेष्टाशील होना। ईर्ष्या-रोग से ग्रसित व्यक्ति में इन दोनों बातों का अभाव होता है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति जिसके प्रति ईर्ष्या करता है, उसके गुण भी उसे दुर्गुण प्रतीत होते हैं। उसकी अच्छाई भी उसे बुराई के रूप में भासित होती है। उसकी सफलता उसके लिए असह्य हो जाती है। जहाँ लोग किसी व्यक्ति के गुण गाते हैं, वहीं ईर्ष्यालु उसके भीतर कालिमा ढूँढने की चेष्टा करता है। 'मानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने सिंहिका को ईर्ष्या के रूप में संकेतित किया है। श्री हनुमान जब समुद्र-लंघन कर रहे हैं, तब सिंहिका दूसरी बाधा के रूप में उनके सामने आती है। उसका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं –

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई ।
करि माया नभु के खग गहई ।।
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं ।
जलबिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं ।।
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई ।
एहि बिधि सदा गगनचर खाई ।।
सोइ छल हनुमान कहँ कीन्हा ।
तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा ।।
ताहि मारि मारुतसुत बीरा ।
बारिधि पार गयउ मतिधीरा ।।

सिंहिका ऊपर उड़कर जाने वालों की छाया पकड़कर नीचे खींचती है और उनका भक्षण करती है। यह सांकेतिक भाषा है। जो भी ऊपर उड़ते हैं, जिनकी ख्याति होती है, जो लोगों की दृष्टि में वरेण्य होते हैं, ईष्यालु व्यक्ति केवल उनमें छाया देखने की चेष्टा करता है, उनमें कालिमा ढूँढता है और उस कालिमा को पकड़कर उन्हें नीचे गिराकर उन्हें खाने में सुख का अनुभव करता है। हनुमान जी को लगा कि उनकी गति रुक रही है। वे तो भक्तिस्वरूपा सीताजी की प्राप्ति के लिए अहंकार-समुद्र का लंघन कर रहे हैं। उन्हें लगता है कि कोई उन्हें आगे बढ़ने से रोक रहा है। वे तो साधक हैं, अपने भीतर झाँकते हैं। उन्हें सिंहिका रूप ईष्यावृत्ति दिखाई पड़ती है। वे निर्भय हो उसे नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार ईर्ष्या की बाधा को दूर करते हैं।

ईर्ष्या और द्वेष का चोली-दामन का साथ है। दोनों में थोड़ा अन्तर है। ईष्यालु व्यक्ति स्वयं जलता है, पर द्वेषी व्यक्ति खुद तो जलता ही है, साथ ही जिसके प्रति द्वेष करता है उसे भी जलाता है। 'द्वेष' शब्द का अर्थ ही होता है – जो दोनों ओर जलाए।

ईर्ष्या की प्रकृति बड़ी विचित्र है। सामान्यत: किसी को दु:खी देखकर हमें भी कष्ट का अनुभव होता है और किसी को सुखी देकर हम भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं? पर ईर्ष्यालु के साथ ठीक इसका विपरीत होता है। वह किसी को दु:ख-कष्ट में पड़ा देख सुख का अनुभव करता है तथा किसी को सुखी देख दु:ख की ज्वाला में जलता है।

यह ईर्ष्या की मात्रा हम भारतीयों में अधिक है। स्वामी विवेकानन्द एक बार कह ही उठे थे – ''ईर्ष्या ही हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्व-शक्तिमान् ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकता।''

ईर्ष्या को दूर करने के लिए पहले हमें यह समझना होगा कि यह एक प्राणघाती रोग है। दूसरा कदम यह होगा कि जिस व्यक्ति के प्रति हम ईष्यालु हैं, उसके गुणों को बारम्बार अपने मन में बलपूर्वक उठाना होगा। तीसरा कदम यह होगा कि रोग की विभीषिका को समझकर हम उसके प्रति निर्मम हो जायँ। केवल इस प्रकार ही ईर्ष्या के परिणामों से बचा जा सकता है।

मातृ साहचर्य में

पांचूदासी मुखोपाध्याय

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरा जन्म निष्ठावान वैष्णव-कुल में हुआ था। पिता का नाम था आशुतोष भट्टाचार्य। सिमला में उन्हीं के ही ऑफिस में ठाकुर के अन्तरंग गृही पार्षद पूर्णचन्द्र घोष नौकरी करते थे। एक दिन पिताजी ने पूर्णबाबू से हँसी में कहा, "आप लोगों के ठाकुर तो चले गये हैं, अब क्या करेंगे?" पूर्णबाबू ने तत्काल दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "वे गये कहाँ हैं?" पिताजी से मैंने यह बात कई बार सुनी है। लेकिन पिताजी जब यह बात कहते, तो बड़ी दुखी प्रतीत होते, क्योंकि ठाकुर के रहते उन्हें उनका दर्शन नहीं मिला था, या यों कहें कि वे ठाकुर का दर्शन करने नहीं गये।

मेरे पति का नाम हरिदास मुखर्जी था। उस समय हम लोग बहूबाजार मुहल्ले में रहते थे। हम लोगों के पड़ोसी पूर्वी बंगाल का एक मुखर्जी परिवार था। उसी परिवार के एक युवक सुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय* के साथ मेरे पति की धनिष्ठता थी। उस समय मेरी एवं मेरे पति की दीक्षा लेने की बहुत इच्छा थी। हम जानते थे कि सुरेन्द्रनाथ का बेलूड़ मठ के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक दिन मेरे पति ने सुरेन्द्रनाथ से हम लोगों के दीक्षा लेने की इच्छा के बारे में बताया। सुनकर सुरेन्द्रनाथ आश्वासन देते हुए बोले कि सारी व्यवस्था कर देंगे। इसके लिये हम लोगों को बिल्कुल चिन्तित होने की जरूरत नहीं। एक दिन सुरेन्द्रनाथ हम दोनों को बलराम मन्दिर ले गये। उस समय स्वामी ब्रह्मानन्द वहीं निवास कर रहे थे। उन्हें प्रणाम करके उठते ही सुरेन्द्रनाथ के उनसे हम लोगों की दीक्षा लेने की बात कही। आनन्दमय महाराज सस्नेह बोले, "दीक्षा लोगे? यह तो बड़ी अच्छी बात है। उद्बोधन में माँ हैं। माँ के पास जाओ। उनसे प्रार्थना करो।" मैं सिर नीचे करके चुपचाप खड़ी रहीं। तत्पश्चात् सारा संकोच हटाकर हिम्मत करके बोली, "सारी व्यवस्था आप ही को करनी होगी महाराज!" मुझे नहीं पता मेरे उस निवेदन में महाराज ने क्या देखा, लेकिन अन्तर्यामी महापुरुष निर्मल आनन्द में हँस पड़े। ऐसी पवित्र आनन्दमयी हँसी इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी थी। उस हँसी से पूरा कमरा मानों अमृतमय हो उठा था। मुझे लगा – हँसी नहीं, यह तो मानो आनन्द की निर्झरिणी हैं। वे बोले, 'तुम लोगों को कोई चिन्ता नहीं। माँ से जाकर मेरी बात कहो। मैं भी माँ को प्रणाम करने जाऊँगा, तो कह दूँगा।" उद्बोधन जाकर महाराज का उल्लेख करते हुए माँ से प्रार्थना करने पर माँ ने कृपापूर्वक सम्मति दी। एक दिन माँ ने हम लोगों को दीक्षा दी। जन्म-जन्मान्तर के पुण्य के सौभाग्य से हम लोग धन्य हुए। दीक्षा के बाद हम लोग प्रसाद पाकर माँ को प्रणाम करके सर्वांग में माँ जगज्जननी की पदधूलि का पुण्य रेनु लगाकर घर लौट आये। तत्पश्चात हम दोनों उद्बोधन में आने-जाने और माँ के स्नेह-सान्निध्य की अमृतसुधा से सिंचित होने लगे। माँ को प्रणाम कर मेरे पति नीचे के कमरे में स्वामी सारदानन्द के पास बैठे रहते। वे धर्मतला के एक स्कूल में पढ़ाते थे, पर उन्हें संगीत से बड़ा लगाव था। स्वामी सारदानन्द गम्भीर महापुरुष थे, लेकिन मेरे पति के साथ संगीत के बारे में गहन चर्चा करते। गांधार और खमाज को लेकर दोनों में चर्चा होती। या कभी एकताल तथा चौताल की मात्रा में समानता तथा चाल में भेद पर चर्चा होती। उस समय महाराज मानो एक युवक के समवयस्क हो जाते और तरुण शिक्षक के साथ चर्चा में डूब जाते। बीच-बीच में ठाकुर-स्वामीजी के बातें भी होती। मैं ऊपर माँ के पास रहतीं। माँ की छोटी-मोटी सेवा का सुयोग पाकर मैं धन्य हो जाती।

एक बार माँ की जन्मतिथि के दिन ताजे कलमी साग और एक लाल किनारी की साड़ी लेकर हम उद्बोधन जाने के लिए घोड़ागाड़ी में निकले। मेरे पति बच्चों के साथ माँ को प्रणाम करके नीचे चले गये। प्रणाम के समय मैंने कलमी साग की पोटली तथा साड़ी को माँ के चरणों के पास रख दिया। बड़ी इच्छा थी माँ आज यह साड़ी पहने लें। माँ ने पूछा – "पोटली में क्या लायी हो?" मैंने बड़े संकोच के साथ कहा, "थोड़ा-सा कलमी का साग है।" सुनकर माँ आनन्दविभोर हो गई। अन्तर्यामिनी ने कहा, "आज मैं तुम्हारी लाई साड़ी पहनूँगी।' सुनकर मैं अपने आँसू न रोक

(शेष अगले पृष्ठ पर)

* ये स्वामी ब्रह्मानन्द के मंत्रशिष्य थे, १९१९ ई. में रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हुए, संन्यास के बाद नाम हुआ – स्वामी निर्वेदानन्द
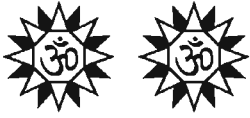
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२४)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

३. भगवान की कृपा ही सार है

महाराज भाव में स्थिर होकर बैठे हुए हैं। मन अन्तर्मुखी है। थोड़ी देर बाद वे तालियाँ बजाते हुए अत्यन्त मृदु स्वर में बोल रहे हैं – "हरिबोल, हरिबोल, हरिबोल।" प्रत्येक वर्ण से मानो मधु झर रहा है।

भाव का किंचित् उपशम हो जाने पर वे कहने लगे – "हरि ही हमारे एकमात्र बल हैं।"

एक भक्त – महाराज, सोचता हूँ कि दिन-रात भगवान को पुकारूँगा, परन्तु यह मन से चला क्यों जाता है?

बाबूराम महाराज – "दिन-रात यदि भगवान को स्मरण रख सके, तब तो तुम सिद्ध हो गये। सिद्ध होना और क्या है? इसी के लिए ही तो साधना और प्रयास किया जाता है। साधना करते-करते भगवान की कृपा से, जिसका जैसा आधार है, उसे वैसी वस्तु मिल जाती है। यह आध्यात्मिक जगत् है, भौतिक नहीं कि चूना और हल्दी मिलाया, तो लाल हो गया। यह रासायनिक सम्मिश्रण जैसा नहीं है कि इतना जप या इतना प्राणायाम करने से, तभी भगवान को पाओगे। उनकी कृपा हुए बिना कुछ भी नहीं होगा। परन्तु जब तक उनकी कृपा नहीं होती, तब तक साधन किये जाना होगा, नहीं तो नहीं होता। **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** – बारम्बार सुनना होगा, मनन करना होगा और ध्यान करना होगा। यह क्या दाल-भात जैसा कोई भौतिक पदार्थ है कि भरपेट खा लिया और हो गया!

"तन-मन-धन से, मन-मुख एक करके, साधना में डूब जाना पड़ता है। 'रे मन, काली कहकर हृदयरूपी रत्नाकर में डुबकी लगा'। जितना ही भजन करोगे, वे उतनी ही शक्ति-सामर्थ्य और बल देंगे। धैर्यपूर्वक साधना में लगे रहना चाहिए, एक-न-एक दिन वे अवश्य कृपा करेंगे। इतने दिन साधना की, किन्तु कुछ भी तो नहीं हुआ और व्यर्थ कष्ट उठाकर क्या होगा – यही सोचकर छोड़ नहीं देना चाहिए। 'हरि से लागि रहो रे भाई, तेरी बनत बनत बनि जाई'।

"समुद्र के किनारे एक वृक्ष पर पक्षियों का एक जोड़ा निवास करता था। एक दिन मादा पक्षी ने उसी वृक्ष पर कुछ अण्डे दिये। एक दिन आँधी के समय घोसले के साथ वे अण्डे समुद्र के किनारे जा गिरे। तभी एक तरंग आकर उन अण्डों को बहा ले गयी। दोनों पक्षी उस समय चरने गये थे। लौटकर उन्होंने देखा कि अण्डे समुद्र के जल पर तैर रहे हैं। उन लोगों ने समुद्र से काफी अनुनय-विनय किया कि वह अण्डों को किनारे पर लौटा दे, परन्तु दुर्बल की बात भला सुनता ही कौन है? समुद्र अपने ही भाव में मेघ के समान गम्भीर गर्जन करता हुआ तरंगें उठाता रहा। तब दोनों पक्षियों ने प्रतिज्ञा की कि वे समुद्र को सुखाकर उसके हाथ से अपने अण्डों का उद्धार करेंगे।

"जैसी प्रतिज्ञा वैसा ही कार्य। दोनों पक्षी अपने छोटे-छोटे चोंचों से समुद्र को सुखाने में लग गये। वे अपनी चोंचों से एक-एक बूँद पानी उठाते और उड़कर दूर डाल आते।

"पक्षी की चोंच में भला कितना पानी आयेगा कि वह उससे समुद्र को सुखा सके? अन्य पक्षियों ने उन्हें बहुत समझाया, परन्तु वे दोनों उस पर ध्यान न देकर, पूरे मन से अपने कर्तव्य में लगे रहे। उन्होंने कहा, 'तुम लोग हमारे जाति-बान्धव हो, जिसकी इच्छा हो हमारे साथ सहानुभूति दिखाते हुए इसी प्रकार कार्य में लग जाओ। नहीं कर सकते, तो खिसक पड़ो।' कुछ पक्षी उनके अनुरोध पर उस कार्य में सम्मिलित हो गये। क्रमशः और भी अनेक पक्षी आकर उनके साथ जुड़ गये। सैकड़ों पक्षी समुद्र से एक-एक बूँद पानी चोंच में उठाते और थोड़ी दूर जाकर डाल आते।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सकी। माँ के कितने ही शिष्य, कितने ही भक्त उनकी जन्मतिथि पर कितने मूल्यवान वस्त्र लाये थे। लेकिन माँ ने उस दिन दया करके मुझ निर्धन की दी हुई साधारण-सी साड़ी पहना था। उस दिन प्रसाद पाते समय देखा माँ अत्यन्त आनन्द से हम लोग द्वारा लाई कलमी का साग खा रही हैं।

अनेक घटनायें याद आ रही है। अनेक स्मृतियाँ धुँधली भी हो गयी हैं। माँ का शरीर चिताग्नि देने के पहले भक्तों के प्रणाम करने के लिए बेलूड़ मठ में रख गया था। उस समय मेरे तथा मेरे पति के लिये जगत् अन्धकारमय हो गया था। मैंने पति से कहा – "माँ चली गयीं; उनका कोई चिह्न भी तो हम लोगों के पास नहीं रहा।" तब मेरे पति गंगाजी से थोड़ी -सी मिट्टी लाये और माँ के श्रीचरणों से स्पर्श कराकर मुझे दिया। माँ के श्रीचरणों से स्पृष्ट वह पवित्र मिट्टी आज भी हमारे घर के एक डिबिया में संरक्षित हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

''अस्तु, इसी प्रकार सैकड़ों पक्षी एकत्र होकर दिन-पर-दिन, मास-पर-मास परम अध्यवसाय के साथ असम्भव को सम्भव बनाने में तत्पर थे। एक दिन संयोगवश नारद ऋषि वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने यह अद्भुत तथा हास्यास्पद कार्य देखकर उन्हें समझाया कि इसमें सफलता असम्भव है। परन्तु उन पक्षियों ने कहा, 'हमने प्रतिज्ञा की है कि जैसे भी हो, हम उन अण्डों को वापस लेंगे। इसके लिए सैकड़ों जन्म लग जायँ, तो भी हमें स्वीकार है।' नारद की बातों से प्रतिज्ञा-पालन में तत्पर पक्षी जरा भी विचलित नहीं हुए। यह अद्भुत घटना देखकर मंत्रद्रष्टा ऋषि उनकी प्रशंसा करते हुए वैकुण्ठ में श्रीहरि के पास गये।

''सर्वज्ञ भगवान ने भू-पर्यटक नारद से पूछा – 'ऋषिवर, तुम तो पृथ्वी घूम आये, कहीं कोई अद्भुत घटना देखने में आई क्या?' मर्मज्ञ नारद ने अद्भुत कर्म में लगे उन पक्षियों के उस असीम अध्यवसाय तथा असम्भव प्रतिज्ञा की बात कही। इस पर भक्तवत्सल भगवान ने समुद्रद्वेषी गरुड़ के मुख की ओर देखा। प्रभु के संकेत का तात्पर्य समझकर गरुड़ तत्काल अपने जाति-बान्धवों की सहायता के लिए उस स्थान पर गये और वहाँ पहुँचकर समुद्र के जल में ऐसी हलचल मचा दी कि समुद्र डरकर उन पक्षियों के अण्डे वापस करने को मजबूर हो गया।

''एकताबद्ध पक्षियों की टोली ने भगवान की कृपा तथा अध्यवसाय के द्वारा अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त कर ली।

''कुरुक्षेत्र के युद्ध में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पहले बहुत समझाया, विश्वरूप भी दिखाया, पर उनका मोह नष्ट नहीं हुआ। आखिरकार उनकी कृपा हुई और तब अर्जुन ने कहा –

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

– अर्थात् मेरा मोह या माया-ममता जो भी थी, वह सब अब दूर हो चुकी है; **स्मृतिर्लब्धा** – मुझे स्मृति की प्राप्ति हो गयी है, मैं कौन हूँ यह समझ रहा हूँ, मैं कोई सामान्य नहीं हूँ – वही अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ, यह स्मृति मुझे आ रही है। कहाँ से? **त्वत्प्रसादात्** – अर्थात् तुम्हारी कृपा से समझ सका हूँ। सारे सन्देह चले गये हैं। मुझे जो भी कहोगे, अब मैं वही करने को तैयार हूँ, मैं युद्ध करूँगा।

(भक्तों के प्रति) ''इसी प्रकार भगवान की कृपा से जब तुम लोगों का भी मोह दूर हो जायगा, तब तुम कौन हो – यह समझ सकोगे। परन्तु उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए उन पक्षियों के समान अध्यवसाय के साथ इष्ट-साधन में लगकर पड़े रहना चाहिए।

४. सार बातें

''अस्तु। इतनी व्यर्थ की बातों के भीतर अन्त में तुम लोगों को दो सार बातें कहता हूँ, सुनो – सार बात यह है – सुबह-शाम तालियाँ बजाकर 'हरिबोल, हरिबोल' कहते हुए भगवान को पुकारना, निर्जन में उनसे प्रार्थना करना और जब कभी समय मिले या मन में कोई व्यर्थ की विचार या दुर्बलता आये, तभी व्याकुल होकर उन्हें सूचित करना, उनकी सहायता माँगना। देखोगे, तत्काल मन में अदम्य साहस, असीम धैर्य और महातेज आयेगा।

''अच्छा आदमी हो, संसारी न हो, तो बोलने की इच्छा होती है और अपने आप ही सारी बातें निकल आती हैं। पर घोर आसक्त विषयी व्यक्ति होने पर, हजार प्रयास करने के बावजूद मुख से बातें ही नहीं निकलतीं, मानो कोई मुख को पकड़े रहता है। ब्रह्मानन्द महाराज भी यही बात कहते हैं।

(भक्तों को दिखाते हुए ब्रह्मचैतन्य की ओर उन्मुख होकर) ''ये लोग सब अच्छे हैं, विषय-बुद्धि नहीं है।''

उसी समय एक युवक आया और बाबूराम महाराज को प्रणाम करके बोला, ''महाराज, मैंने पूज्यपाद ब्रह्मानन्द स्वामी से दीक्षा पाने के लिए उनसे अनुरोध किया था, वे बोले कि बाबूराम महाराज का मत है या नहीं, उनसे पूछकर आ।''

बाबूराम महाराज – मेरी पूरी सहमति है।

युवक परम आनन्द के साथ महाराज के पास चला गया और थोड़ी देर बाद आकर बोला – महाराज ने मेरे ऊपर कृपा करने की स्वीकृति दी है। अब क्या-क्या करना होगा? मुझे बताइये, व्यवस्था करके लाऊँगा।

बाबूराम महाराज – जो व्यवस्था करने को कहूँगा, वह कर सकेगा न! सोचकर देख ले।

युवक – पहले कहिए, जहाँ तक सम्भव हुआ, प्रयास अवश्य करूँगा।

बाबूराम महाराज – शुद्ध मन और पवित्र देह – इन्हीं दो वस्तुओं की व्यवस्था करनी होगी, कर सकेगा?

युवक – महाराज, वह तो आध्यात्मिक हुआ, वस्तुएँ क्या-क्या चाहिए, यह बताइये।

बाबूराम महाराज – (डाँटते हुए) मैं आध्यात्मिकता ही चाहता हूँ, जड़ वस्तु में मेरा बिल्कुल भी विश्वास नहीं है।

युवक किंकर्तव्यविमूढ़ हो थोड़ी देर तक चुपचाप खड़ा रहा, फिर बिल्ववृक्ष के नीचे से मठ की ओर चला गया।

स्वामी ब्रह्मानन्द की परमहंस-अवस्था

१. प्रेमोन्मादिनी महिला का वैराग्य

२९ मार्च १९१६ ई. का दिन। आज श्रीरामपुर से किसी सम्भ्रान्त वंश की हाल ही में विवाहिता एक युवती अकेली बेलूड़ मठ में आयी है। अपराह्न के तीन-चार बजे होंगे।

उनका सरल बालिका के समान स्वभाव है; शरीर-बोध

नहीं है; आँचल धरती पर घिसट रहा है; मुख पर लज्जा, संकोच या भय का चिह्न तक नहीं है; मन पर कोई ग्रन्थि नहीं है; केश बिखरे हुए हैं; हाल ही में विवाहित होने के कारण सिर के वस्त्र खुले हुए हैं; हाथ में सोने की चूड़ियाँ हैं; देखने में सुन्दर हैं – मानो साक्षात् देवी जगद्धात्री हों। देवीभाव है। उनका मन काम-कांचन के राज्य से बहुत ऊपर उठ चुका है। लक्ष्मीदेवी का मठ में यह पहला आगमन था, इसके पूर्व कभी आना नहीं हुआ था। मठ में आकर बिल्ववृक्ष के नीचे उन्होंने एक भक्त से पूछा – महन्त महाराज कहाँ हैं?

मठ-भवन के दुमंजले के पूर्व की ओर के बरामदे में श्रीठाकुर के मानसपुत्र रामकृष्ण मठ तथा मिशन के प्रधान अध्यक्ष पूज्यपाद ब्रह्मानन्द महाराज के साथ भेंट होते ही कन्या के हृदय का रुद्ध द्वार उन्मुक्त हो गया। श्री राखालराज के चरणों में बैठकर ईश्वर-प्रेमोन्मादिनी श्रीमती (राधा) की छोटी पुत्री के समान वे फूट-फूटकर रोने लगीं! मानो वे कितने 'अपने' हों! कितने परिचित हों!!

उन्होंने कहा – मैं मठ में ही रहूँगी। आप ही मेरे माता-पिता हैं। आप लोगों के आश्रय में रहकर मैं साधन-भजन करूँगी। मठ में आश्रय न मिलने पर (एक बड़ा छुरा निकाल कर) यह देखिए, मेरे पास तेज धारवाला छुरा है, आत्महत्या करूँगी। जिस तुच्छ-घृण्य शरीर के द्वारा भगवान की प्राप्ति नहीं हुई, उस असार देह की मेरे लिए क्या उपयोगिता है?

यह कहकर वे महाराज के चरणों में पड़ गयीं और बालिका के समान आकुल क्रन्दन करने लगीं।

थोड़ी सहज होने के बाद देवीप्रतिम उन साधिका ने श्रीकृष्णसखा राखालराज को दो-एक भजन सुनाए।

तब पूजनीय बाबूराम महाराज ऊपर ग्रन्थालय-कक्ष* में बैठकर पत्र तथा ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य उनके सामने बैठकर रामकृष्ण मिशन का हिसाब-किताब लिख रहे हैं। पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज के सेवक विश्वरंजन महाराज ने आकर पूज्यपाद बाबूराम महाराज को कहा – महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) ऊपर के बरामदे में हैं, आपको बुला रहे हैं। वे पत्र लिखना बन्द करके तत्काल उनके पास चले गये।

बाबूराम महाराज थोड़ी देर बाद ग्रन्थालय कक्ष में लौटे। देखते-ही-देखते पूज्य राजा महाराज भी वहाँ आये और हँसते हुए अपने शुद्धत्त्व गुरुभ्राता का हाथ पकड़कर कुर्सी से उठा कर उन भावोन्मादिनी भक्तिमती महिला के पास ले गये। थोड़ी देर बाद बाबूराम महाराज पुन: वहीं आकर अपने कार्य में लग गये, पर तत्काल ही परमहंसाग्रणी राखालराज फिर आकर एक छोटे शिशु के समान खिलखिला कर हँसते हुए प्रेमघन-मूर्ति स्वामी प्रेमानन्द के निकट आकर कुर्सी पर विराजमान हो गये।

श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) की उस समय परमहंस अवस्था थी। स्वभाव बालक जैसा हो गया था। उन्हें देखकर लगा मानो उनके नेत्र-मुख आदि सर्वांग से आनन्द की धारा प्रवाहित हो रही है।

बाबूराम महाराज ने (पूजनीय ब्रह्मानन्द महाराज की ओर संकेत करते हुए) सामने बैठे ब्रह्मचैतन्य से कहा – "देखते हो न, इसी को परमहंस अवस्था कहते हैं।"

उस दिन अपराह्न में 'मन-बुलबुल' नामक ग्रन्थ की रचयिता के साथ एक अन्य वयस्क कुमारी भी आकर स्वामी ब्रह्मानन्द महाराज के साथ ऊपर के बरामदे में बातें कर रही थीं। उनकी विवाह करने की इच्छा नहीं थी और वे किसी महिला-आश्रम में रहकर साधन-भजन तथा भगवत्-आराधना में जीवन बिताने की इच्छुक थीं।

विवाह करने के लिए महिला के माता-पिता बड़ा हठ कर रहे थे, इसीलिए वे मठ में महाराज की सलाह लेने आयी हैं।

स्वामी ब्रह्मानन्द (बाबूराम महाराज के प्रति) – "मेरी समझ में जरा भी नहीं आता कि ठाकुर का क्या खेल है! महिलाएँ तक ठाकुर के नाम पर बिल्कुल पागल हो रही हैं। जो लड़की अकेली आयी है, उसका देवी भाव है, खूब सरल और पवित्र है, जरा भी कालिमा नहीं है। स्वामीजी की स्त्री-मठ बनाने की इच्छा थी और लगता है कि महापुरुष की वाणी व्यर्थ नहीं जायगी! सब ठाकुर की लीला है। नहीं तो कुमारी बालिकाओं के मन में इस तरह का तीव्र वैराग्य तथा सद्वासना क्यों जागेगी? और ठाकुर उन्हें क्यों यहाँ लायेंगे?"

जो महिला छुरा लेकर आयी थीं, जिनका देवीभाव था, पूजनीय महाराज ने उनके सिर पर हाथ फेरकर उसे बहुत समझाया। कहा – "विवाह भले ही न करो बेटी, परन्तु यह तो पुरुषों का मठ है, यहाँ स्त्रियों का रहना निषिद्ध है। बेटी, आज घर लौट जाओ। घर के सभी लोग चिन्तित होंगे। घर जाकर ठाकुर-स्वामीजी की पुस्तकें जुटाकर पढ़ो। उनके भावों के साथ परिचित हो जाओ। ठाकुर के सामने रो-रोकर प्रार्थना करना। वे तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। गौरी-माँ का आश्रम या निवेदिता-स्कूल है, वहाँ पर व्यवस्था हो सकेगी। सचमुच, भगवान से प्रेम न कर पाने पर मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ है।" आदि-आदि। परन्तु वे महिला किसी भी हालत में पति के घर नहीं लौटी।

❖ (क्रमशः) ❖

* वर्तमान प्रेसीडेंट महाराज का कमरा

कर्मयोग – एक चिन्तन (१२)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

ओलम्पिक खेल में फुटबाल का भी खेल होता है। दोनों तरफ ग्यारह-ग्यारह खिलाड़ी होते हैं। दोनों तरफ गोल के खम्भे होते हैं। वहाँ एक गोलकीपर होता है। उसका एक ही धर्म और कर्म रहता है कि किसी भी तरह फुटबॉल को गोल में घुसने नहीं देना। बाकी पार्टी के लोगों का यह प्रयत्न रहता है कि दूसरी पार्टी के गोल में बॉल को डाल दें। सैकड़ों लात खाकर कभी वह फुटबॉल गोल में घुस जाये, तो लोग तालियाँ बजाते हैं।

एक दूसरी खेल होती है दौड़ प्रतियोगिता। इसमें सौ मीटर दौड़ना है। हरी झंडी झुक जाये, तो सामने जो लाल झंडी दिख रही है, वहाँ तक दौड़कर पहुँचना है। उसे छू लेना है, तब तुमको ये गोल्ड मेडल मिल जायेगा। तब आप देखेंगे, ज्यों ही हरा झंडा झुका, तब सब लोग घोड़े की भाँति दौड़ पड़ते हैं। कोई पहला, कोई दूसरा आता है।

अब हम-आपको यह फैसला करना है कि फुटबॉल की तरह हजारों लात खाकर गोल में घूसना हो, तो हजारों बार जन्म लीजिए, विवाह कीजिए, बच्चे पैदा कीजिए, महल बनाइये, अपनी मूर्ति बनवाइये आदि आदि सब करते रहिये। यदि हजारों लात खाने की इच्छा नहीं है, तो दौड़ में शामिल हो जाइए, कि भई बहुत हो गया, बहुत इस संसार में लात खायी है, अब हम फुटबॉल नहीं होंगे, अब हमें दौड़ में शामिल होना है। आपकी उम्र कितनी भी हो, लेकिन जब यह बात समझ में आयेगी कि अब फुटबॉल नहीं होना है, तो दौड़ में शामिल हो जाइये और मुक्ति के लक्ष्य में प्रवेश कर जाइये।

अत: मिथ्याचारी मत बनो। नहीं तो मिथ्या का परिणाम पाप होगा और इसके जन्म-मरण के चक्कर में घूमते रहोगे और नरक में जाओगे। जीवन में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही होना चाहिये। गीता के अध्यायों के अंत में जो पुष्पिका है, उसमें हम देखते हैं कि गीता ब्रह्मविद्या और योग शास्त्र है। ब्रह्मविद्या है सिद्धान्त और योगशास्त्र है व्यवहार। जीवन में सिद्धान्तानुसार आचरण भी होना चाहिये। बहुत बार हम सिद्धान्तों से परिचित नहीं होते हैं, किन्तु व्यवहार में सिद्धान्त तो आता ही है। जैसे आपका जन्म किसी वैष्णव परिवार में हुआ, तो आज से सैकड़ों वर्षों पूर्व आपके पूर्वजों ने वैष्णव परिवार के इस सिद्धान्त को सज्ञान स्वीकार किया था कि वैष्णवों को निरामिष भोजन करना चाहिये, मांसाहार, मद्यपान आदि नहीं करना चाहिए। आपके इन पूर्वजों ने सिद्धान्त को समझा, गुरु का उपदेश पालन किया। वंश-परम्परा से इस सिद्धान्त को आगे बढ़ाया और उस सिद्धान्त का आप भी पालन कर रहे हैं। वैष्णवों के पूर्वजों ने यह समझ लिया था कि मांसाहार आदि से तामसिकता बढ़ती है, उससे साधना में बाधा आती है, पशुत्व प्रबल होकर मनुष्य वासना के अधीन हो जाता है, इसलिये मांसाहारी भोजन नहीं करना चाहिए। अब हम अपने पूर्वजों के अनुसार जीवन यापन कर रहे हैं। किन्तु व्यवहार और सिद्धान्त में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

जो कपड़ा हम पहने हैं, उसमें धागों का ताना-बाना है और तब कपड़ा बना है। ऐसे ही हमारे जीवन में दर्शन भी प्रविष्ट हो जाता है। ब्रह्मविद्या और सिद्धान्त का पक्ष बहुत प्रबल होता है। भगवान ने अर्जुन को मिथ्याचार से बचने का उपाय बताया है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। ३.७

हे अर्जुन ! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इंद्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

इंद्रियों को मन के द्वारा नियन्त्रण में लाने का एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक अर्थ है। हमने फ्राईड के चेतन-अचेतन मन के सिद्धान्त को देखा था। आज कल के बहुत से मनोवैज्ञानिक इसे मानते हैं कि हमारे मन में अनन्त इच्छायें हैं। हमारे दो मन हैं – एक है चेतन मन – Consious mind और दूसरा है – अचेतन मन Subconsious mind। फ्राईड के अनुसार हमारे जीवन का संचालन अचेतन मन से होता है, किन्तु यह संपूर्ण सत्य नहीं है। साधक के जीवन का संचालन पूर्णत: अचेतन मन से नहीं होता है। फ्राईड या उनके मानने वाले इस बात को भले ही नहीं मानेंगें, लेकिन यह सत्य है। हिन्दू दर्शन या सनातन धर्म इस बात को पूरी तरह स्वीकार नहीं करता है कि हमारा सारा जीवन अचेतन मन से संचालित होता है। अचेतन मन प्रभावशाली है, इससे हमारे जीवन के बहुत से कर्म होते रहते हैं। किन्तु जो सचेतन मन है, उसमें इतनी शक्ति है कि वह अचेतन मन में आमूल-चूल परिवर्तन ला सकता है।

भगवान आदि शंकराचार्य अद्वैतवादी थे। वे विवेकचूडामणि में कहते हैं –

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तु-उपलब्धये।
वस्तुसिद्धि विचारेण न किंचित् कर्मकोटिभिः।।

कर्म से चित्त की शुद्धि होती है। किन्तु आत्मसाक्षात्कार,

आत्मा या ब्रह्म की एकता की अनुभूति विचार के द्वारा ही होती है। करोड़ों कर्म करने से भी बिना विचार किये वस्तु की उपलब्धि नहीं होगी।

इसलिये विचार करो। अपना निरीक्षण करो। इंद्रियों का मन के द्वारा नियंत्रण करो। अगर हम बलपूर्वक इंद्रियों का दमन कर देंगे और विचारपूर्वक मन का संयम नहीं करेंगे तो हमारे मन में ग्रंथियाँ बन जायेंगी, जो हानिकारक हैं। आजकल मानसिक रोगी अधिक दिखाई पड़ते हैं। यह अपनी इच्छाओं या वासनाओं को बिना विचार के बलपूर्वक दबाने से होता है। इंद्रियों को बलपूर्वक रोककर कोई भी मनुष्य वासनाओं से मुक्त नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में एक कथा है।

एक साधक साधु-जीवन बिता रहे थे। भिक्षा माँगकर खाते थे। एकदिन वे किसी घर के सामने जाकर भिक्षा माँगने लगे। 'भवति भिक्षां देहि' – ऐसा कहा। उस घर से एक युवती-माता भिक्षा लेकर आयी। वे साधक उस युवती को देखकर विमुग्ध हो गये। वे भिक्षा लेना भूल गये। वैसे ही खड़े-खड़े उसे देख रहे हैं। उस युवती ने कहा कि 'बाबा, भिक्षा लीजिए'। तब उन साधक को होश आया, उन्होंने झोली खोलकर भिक्षा ले ली। भिक्षा लेकर अपने आश्रम में आये और भिक्षा ग्रहण कर ली। उसके बाद उन्होंने चाकू से अपनी दोनों आँखें फोड़ दीं।

इंद्रियों को मन से संयत न करने से यही दुष्परिणाम होता है। आप सोचें, उन साधक ने अपनी इंद्रियों का संयम करने का प्रयत्न तो किया, किन्तु जिस सुंदरी का दृश्य उन्होंने अपने मन से देखा, वह मन पर अंकित हो गया। क्या वह आँख फोड़ने से मन से निकल जायेगा? जीवन में इस प्रकार की मूढ़ता कभी नहीं होना चहिये कि इंद्रियों को दुर्बल कर देने से, इंद्रियों को पंगु कर देने से वासना चली जायेगी। हमारे मन से वासना चली नहीं जाती है, और न भविष्य में कभी ऐसा होगा। प्रत्येक इंद्रियों को यदि हम विकृत कर दें, तो क्या उससे हमारी वासनायें नष्ट हो जायेंगी? नहीं ऐसा कभी नहीं होगा। इस मनोवैज्ञानिक सत्य को आज से ५ हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व भगवान ने कहा है।

इसलिये इसके समाधान हेतु भगवान मनोवैज्ञानिक परामर्श देते हुये कहते हैं – मनसा इंद्रियाणि नियम्य – इन्द्रियों को मन के द्वारा रोक कर। अर्थात् योग की भाषा में इसको शम और दम कहते हैं। शम-दम का अभ्यास साथ-साथ करना चाहिए, तभी वह हमें निर्वासना करने में सहायक होगा। जबरदस्ती इंद्रियों को रोक लेने को दम कहते हैं। दम विषय में हमने थोड़ी चर्चा की थी।

अब शम पर थोड़ा विचार कर लें। शम् अर्थात शमन करना, ठंडा करना। यदि कोई व्यक्ति जल जाये, तो डॉ. दवाइयाँ देते हैं, जिससे जलन मिट जाय। इसको शम करना, शांत करना कहा जा सकता है। और यह दम के साथ अवश्य चलना चाहिए। हमने अपनी जिह्वा को सुस्वादु भोजन से बलपूर्वक तो रोक लिया। किन्तु मन को नहीं समझाया कि सुस्वादु भोजन अनावश्यक है। पचास लोगों के सामने कह चुके हैं कि मिठाई नहीं खाते, हम साधु हैं या हमने संयम का अभ्यास शुरु किया है। पर मन को कभी समझाया नहीं, जिह्वा का दमन करके रोक दिया। उसका परिणाम क्या होगा? मन से तो उसका चिन्तन होता रहेगा। इसलिये यदि व्यक्ति ने मन से अपने इंद्रियों का दमन नहीं किया है, तो जिह्वा तृप्ति की वासना तीव्र-से-तीव्रतर होती जायेगी और अवसर के संधान में रहेगी कि जब अवसर मिले, तो मैं पूर्णत: विकृत होकर प्रकट होऊँ।

एक घटना हमने देखी थी। सन् १९६४ की बात है। हमारे देश के एक बहुत बड़े महापुरुष थे आचार्य विनोबा भावे। सचमुच उन्होंने मन के द्वारा इंद्रियों को वश में करके रखा था। एक नगर में वे एकबार आये। भूदान-यज्ञ की यात्रा थी। उनके साथ बहुत से लोग चल रहे थे। इस घटना के समय उनके साथ लगभग दो सौ लोग थे। आश्रम के नजदीक ही वे ठहरे थे। हमारे एक भक्त ने ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी से बहुत आग्रह किया कि विनोबाजी आये हुए हैं, आप उनसे भेंट करने के लिए चलिए। स्वामी आत्मानन्द जी मिलने के लिये गये। उन्होंने विनोबाजी से कहा कि आप हमारे आश्रम में पधार कर शाम को प्रवचन दीजिए। वे तैयार हो गये और प्रवचन भी उन्होंने अच्छा दिया। वे जो भक्त थे, वे स्वामी आत्मानन्द जी के पास आये और बोले कि उनके साथ इतने लोग हैं, आप यदि सबको आश्रम में भोजन दें, तो बहुत अच्छा होगा। आत्मानन्दजी ने आश्रम के अन्य सदस्यों से भोजन की व्यवस्था करने को कहा। आश्रम में लगभग रोज सौ आदमियों का भोजन तो बनता ही था। ये भक्त कहने लगे कि पैसे की व्यवस्था मैं करूँगा। विनोबाजी के साथ जो दल आया था, वे सब इस चक्कर में थे कि हम सब विनोबाजी के समान ही रहेंगे। मन से नहीं शरीर से। जैसे नंगे पैर चलेंगे, आधे कपड़े पहनेंगे, जैसे बाबा सादा भोजन करते हैं, वैसा ही भोजन करेंगे। ये सब ऊपर से, भीतर से कुछ नहीं। अब सभी लोग भोजन के लिए आये। इन लोगों ने भोजन की सूची पहले दे दी थी, जिसमें लिखा था कि बिना मिर्च-मसाला के सात्विक भोजन होगा। सुस्वादु नहीं चलेगा। आश्रम ने वैसे ही भोजन की व्यवस्था कर दी। दल के जो नेता थे, वे आकर हमसे कहने लगे कि महाराज, हम आश्रम में जो भोजन ग्रहण करेंगे उसके साथ आश्रम का प्रसाद भी लेंगे। हम लोगों ने प्रसाद की व्यवस्था की और

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

स्वामी विवेकानन्द की बोधगया-यात्रा (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

वायसराय का मन्दिर अधिग्रहण अभियान

१८९८ ई. में लार्ड कर्जन अँग्रेज सरकार के वायसराय होकर भारत आये। १९०१ के नवम्बर में उनके माण्डले जाने पर वहाँ के कुछ बौद्ध नेताओं ने उनसे मिलकर अनुरोध किया कि वे १८७५ में उनके राजा द्वारा बोधिवृक्ष को अर्पित किये गये कीमती उपहारों के विषय में जाँच-पड़ताल करें। कलकत्ते लौटकर उन्होंने अपने अधिकारियों से बोधगया के बारे में सारी जानकारी एकत्र करने का निर्देश दिया। प्राप्त सूचनाओं के आधार पर कर्जन ने निश्चय किया कि मन्दिर को हिन्दुओं के हाथ से छीनकर एक राष्ट्रीय धरोहर बना देंगे। इस विषय में महन्त से चर्चा करने हेतु वे १५ जनवरी, १९०३ को बोधगया पहुँचे। वे पटना के कलेक्टर मि. हेयर तथा गया के कमिश्नर मि. चार्ल्स ओल्डैम के साथ जाकर उनसे मिले। वायसराय ने उनसे पूछा कि वे हिन्दू होकर बुद्ध की पूजा क्यों करते हैं? महन्त ने उत्तर दिया कि वे भगवान बुद्ध को विष्णु का अवतार मानते हैं। कर्जन ने कहा कि आप तो विष्णु के नहीं, शिव के उपासक हैं। महन्त बोले – यह उपासना परम्परा से चली आ रही है। चर्चा के बाद वायसराय इस विश्वास के साथ लौटे कि महन्त सहज ही मन्दिर छोड़ने के लिये राजी हो जायेंगे।[८२] इसके बाद उन्होंने बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर तथा गया के कलेक्टर को महन्त पर दबाव डालने भेजा। मिस्टर ओल्डैम ने उन्हें सरकार द्वारा सम्मानित करने का प्रलोभन दिया और नया कानून बनाकर मन्दिर को अधिग्रहित कर लेने की धमकी भी दी। उन्होंने एक वकील भी बुला रखा था और महन्त से तत्काल एक समझौते का मसौदा बनवाकर उस पर हस्ताक्षर करने को कहा। महन्त ने बड़ी सहानुभूति के साथ इस प्रस्ताव को सुना और थोड़ा विचार कर लेने के बाद ही उस पर हस्ताक्षर करने का वादा किया। पर विचार के बाद महन्त ने समझौते से मना कर दिया। सरकार ने एक दूसरा हथकण्डा अपनाया। उसने कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के प्रधानाचार्य हरिप्रसाद शास्त्री की अध्यक्षता में एक कमीशन बैठाया और हिन्दू विद्वानों तथा जनता के विचारों को प्रभावित करने का प्रयास करने लगी। सैकड़ों लोगों से साक्षात्कार और अनेक चर्चाओं के बाद कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप दी। इसके अनुसार यह मन्दिर अनेक शताब्दियों पूर्व ही बौद्धों द्वारा त्याग दिया गया था, अत: महन्त का इस पर पूरा अधिकार बनता है। कमीशन का यह भी कहना था कि मन्दिर की व्यवस्था के लिये पाँच हिन्दुओं की एक कमेटी बनायी जाय, जिसमें बौद्धों को न रखा जाय।

कमीशन की रिपोर्ट देखकर लार्ड कर्जन बड़े नाराज हुए। इस विषय में वे अधीर होते जा रहे थे, पर देश के प्रशासन के कार्य में व्यस्तता के कारण वे महाबोधि-मन्दिर के अधिग्रहण की अपनी मुहीम को आगे नहीं बढ़ा सके।

इस प्रकार एक ओर था श्रीलंका से आये कट्टर बौद्ध नेता अनागरिक धर्मपाल का १८९१ से लगातार चल रहा अभियान और दूसरी ओर भारत के वायसराय लार्ड कर्जन ने भी १९०३ ई. के प्रारम्भ से बोधगया के महन्त पर दबाव बनाना आरम्भ कर दिया कि वे मन्दिर से अपना अधिकार छोड़ दें।

स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेज शिष्या भगिनी निवेदिता ने इन दोनों हथकण्डों के विषय में हिन्दू बुद्धिजीवियों तथा जनता को सचेत करने का अखिल-भारतीय अभियान चलाया।

निवेदिता के जीवन में भगवान बुद्ध

भगिनी निवेदिता का अपना जीवन भी भगवान बुद्ध के जीवन, शिक्षाओं तथा बोधगया से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। १९०२ ई. में उन्होंने बम्बई की हिन्दू महिला मण्डल

८२. सरकार द्वारा वायसराय की इस यात्रा की एक गोपनीय रिपोर्ट बनायी गयी थी, जिस पर १८ जनवरी, १९०३ को लार्ड कर्जन के हस्ताक्षर हैं। पूरे रिपोर्ट के लिये द्रष्टव्य – Letters of Sister Nivedita, Edited by Sankari Pd. Basu, Ed. 1982, Vol 2, p. 605-610

पिछले पृष्ठ का शेषांश

उन लोगों को प्रसाद में मिठाई खिलाने का निश्चय किया। टिन के डब्बों में रसगुल्ले लाये गये, बालूसाही लायी गयी। अब इस दल के लोगों ने आश्रम का प्रसाद मिठाइयाँ सब दबा के पेट भर खाये। लोगों ने सूची का भोजन तो किया ही, पथ्य का जो खाना था, उसे भी खाया। आश्रम के बाकी कुछ सदस्य रह गये थे। उनका ये बिना नमक का पथ्यवाला खाना बच गया था। उसे बाकी सदस्यों ने खाया। अब विनोबा जी के साथ चल रहे लोगों की मनोदशा देखिये, अगर मन से इंद्रियों को संयत नहीं करेंगे, तो वासनाएँ फूट कर निकलेंगी। स्वामीजी हमेशा कहते थे – Your desire are waiting in your mind like hungry tigers to jump upon you, whenever conditions are propitious. अर्थात् जब कभी प्रलोभन का अवसर हो तब इस धोखे में बिल्कुल मत रहना कि मैं निर्वासना हो गया हूँ। भूखे शेर के समान तुम्हारी वासनाएँ टूट पड़ेंगी और तुम निर्बल होकर वासनाओं के दास हो जाओगे। ❖ (क्रमशः) ❖

द्वारा आयोजित एक व्याख्यान में बताया था – "मेरा जन्म तथा पालन अँग्रेज कुल में हुआ।... मेरी शिक्षा-दीक्षा एक सामान्य अँग्रेज बालिका के समान ही हुई। बचपन से ही मेरे मन पर ईसाई धर्म के संस्कार थे।... पर १८वें वर्ष की आयु से ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की सत्यता के विषय में मेरे मन में शंका पैदा होने लगी। उनमें से बहुत सारे तत्त्व मुझे झूठे तथा विरोधाभासी प्रतीत होने लगे। ... समय के साथ-साथ यह मानसिक संघर्ष बढ़ता गया। इस प्रकार मैं करीब सात वर्ष तक मानसिक अनिश्चितता की स्थिति में रही।... इसके बाद मेरा ध्यान भगवान बुद्ध के जीवन की ओर आकृष्ट हुआ।... तीन वर्षों तक मैं उनसे बहुत प्रभावित रही और पूरी तौर से बौद्ध धर्म के सविस्तार अध्ययन में डूबी रही।"[८४]

उन दिनों वे कुमारी मार्गरेट नोबल के नाम से जानी जाती थीं और लन्दन में निवास करती थीं। १८९५ ई. में भारत के ही एक अन्य आचार्य स्वामी विवेकानन्द से उनकी भेंट हुई, जिनका व्यक्तित्व बुद्धदेव से काफी साम्य रखता था। उनके विचारों तथा कार्य से आकृष्ट होकर वे २८ जनवरी, १८९८ ई. को भारत आयीं। २५ मार्च को जीवन के इस नये दौर में प्रवेश करने के पूर्व स्वामीजी ने उन्हें मठ के पूजाघर में ले जाकर भगवान शिव का पूजन सिखाया और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान करते हुए उन्हें 'भगिनी निवेदिता' नाम दिया। अनुष्ठान के अन्त में उन्होंने निवेदिता को भगवान बुद्ध के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित करने को कहा। उस अवसर पर स्वामीजी ने अपनी शिष्या को आवेगपूर्ण कण्ठ से कहा था, "जाओ, उन बुद्धदेव का अनुसरण करो, जिन्होंने बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व लोक-कल्याण हेतु पाँच सौ बार जन्म लेकर अपने प्राण विसर्जित किये थे।"

निवेदिता के मन में काफी काल से बोधगया-दर्शन की आकांक्षा थी। १९०२ में वे स्वामीजी, ओकाकुरा तथा मिस मैक्लाउड के साथ वहाँ न जा सकीं, क्योंकि तब वे इंग्लैंड में थीं; पर अनागरिक धर्मपाल तथा लार्ड कर्जन की उपरोक्त गतिविधियों के सन्दर्भ में १९०४ ई. में उन्होंने तीन बार बोधगया की यात्रा की; और अनेक व्याख्यानों तथा लेखों के द्वारा हिन्दुओं को इस विषय में शिक्षित करने का अभियान चलाया। उनके लेख तथा व्याख्यानों के रिपोर्ट प्रमुख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए, जिससे महान् जन-जागरण की सृष्टि हुई थी। सर्वप्रथम तो उन्होंने लार्ड कर्जन के उपरोक्त प्रयास के सन्दर्भ में देश के अनेक समाचार-पत्रों के सम्पादकों को पत्र लिखकर इस विषय में अपने पाठकों को वस्तुस्थिति की जानकारी देने का आग्रह किया। कलकत्ते के प्रमुख अखबार 'स्टेट्समैन' के सम्पादक मि. एस. के. रैटक्लिफ को अपने पत्र में लिखा था, "कृपया जनता को मन्दिर के इतिहास से सम्बन्धित थोड़ी प्रारम्भिक जानकारी देकर उन्हें शिक्षित करें।" इसके बाद उन्होंने उसी पत्र में बोधगया मन्दिर तथा इसके हिन्दू धर्म से सम्बन्ध के पूरे इतिहास की जानकारी दी थी।[८५]

भगिनी निवेदिता की बोधगया यात्राएँ

उस वर्ष (१९०४) की जनवरी में उन्हें पटना से कुछ व्याख्यानों के लिये निमंत्रण मिले थे। यात्रा में उनके साथ स्वामी सदानन्द तथा ब्रह्मचारी अमूल्य (शंकरानन्दजी) भी थे। वहीं से राजगीर, नालन्दा होते हुए २७ जनवरी को वे बोधगया पहुँचीं। १० फरवरी को उन्होंने मिस मैक्लाउड के नाम एक पत्र में लिखा था, "मैं बोधगया हो आयी हूँ। वहाँ महन्त की अतिथि थी। मैंने वहाँ का मन्दिर तथा वटवृक्ष देखा। तुमने इसके बारे में मुझे पहले क्यों नहीं बताया? या कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हें इस बात का आभास ही न हुआ हो कि राजनैतिक दृष्टि से यह भारत का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है? यह भविष्य का हृदय है। जापानी धर्मशाला का कोई खास महत्त्व नहीं है, परन्तु श्री ओकाकुरा तथा श्री... (ओडा) का वहाँ जाना यह सिद्ध करता है कि सिंहली लोगों का भाव चाहे जो भी हो, परन्तु जापानी लोग सन्तुष्ट हैं।"[८६]

बोधगया से लौटकर वाराणसी होते हुए ३० जनवरी को वे लखनऊ पहुँचीं। वहाँ वे ४ फरवरी तक रहीं और इस दौरान उन्होंने जो पाँच भाषण दिये उनमें से दो के विषय थे – 'बोधगया' और 'हिन्दू धर्म में बोधगया का स्थान'। व्याख्यानों में निवेदिता ने बताया था, "बौद्ध धर्म – न तो हिन्दू धर्म से अलग है और हिन्दू धर्म का विरोधी। जैसे हिन्दू धर्म की छत्रछाया में अन्य अनेक पन्थ तथा सम्प्रदाय फले-फूले हैं, वैसे ही बौद्ध धर्म भी इसका एक पन्थ है। स्वयं बुद्ध एक महान् हिन्दू आचार्य थे, जो अपने समकालीन सन्त-महात्माओं से महत्तर तथा एक सिद्धपुरुष थे। उनके अनुयायी हिन्दू धर्म की छत्रछाया में ही रहे, सिर्फ वे अपने आपको दूसरे पन्थ के अनुयायियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन जीने वाले मानते थे। निवेदिता ने बौद्धों की तुलना श्रीरामकृष्ण के अनुयाइयों से की थी, जो स्वयं को हिन्दू समाज से पृथक् नहीं मानते थे, भेद केवल इतना ही है कि वे अन्य साधु-सन्तों की अपेक्षा श्रीरामकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसी तरह बौद्ध मतावलम्बी भी भगवान बुद्ध को परम श्रेष्ठ मानते थे।... निवेदिता ने यह भी बताया कि बौद्ध धर्म के रूप में भारत ने विश्व के अन्य देशों को मूल्यवान उपहार दिया है, अत: इस धर्म का पुनर्जागरण अत्यन्त आवश्यक है।[८७]

८३. बौद्धधर्म और बिहार, हवलदार प्रसाद त्रिपाठी, पृ. २५२

८४. सिस्टर निवेदिता, प्रव्राजिका आत्मप्राणा, नागपुर, प्र.सं. पृ. ८-९

८५. Letters of Sister Nivedita, Ed. 1982, Vol 2, p. 601-05

८६. Letters of Sister Nivedita, Ed. 1982, Vol 2, p. 626

८७. Sister Nivedita, Pravrajika Atmaprana, 1992, p. 174 (See The Modern Review, 1911, November, p. 489)

कलकत्ते लौटकर वहाँ भी १६ फरवरी को उन्होंने 'बोधगया' पर व्याख्यान दिया। इसी वर्ष मार्च में वे दूसरी बार बोधगया गयीं और वहाँ से लौटने के बाद १ अप्रैल को क्लासिक थियेटर में उन्होंने इसी विषय पर पुन: व्याख्यान दिया। स्टेट्समैन में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार उन्होंने कहा था –

"बोधगया के महन्तों की श्रुति-परम्परा के अनुसार शंकराचार्य ने स्वयं ही यह मन्दिर इस (गिरि) सम्प्रदाय के संरक्षण में दे दिया था।... अत: मन्दिर की व्यवस्था देखनेवाले संन्यासियों की स्थिति, अपने गुरु द्वारा आदिष्ट एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में थी। कालान्तर में यह परम्परा टूट गयी। परन्तु १७ वीं शताब्दी के मध्य में पुन: इस पन्थ के एक संन्यासी यहाँ लौटे और उन्होंने मन्दिर के प्रबन्ध का कार्य पुन: अपने हाथों में ले लिया। उन्होंने तथा उनके उत्तराधिकारियों ने सर्वदा ही यहाँ सुव्यवस्था बनाये रखने की चेष्टा की है। उनके पास बड़ी-बड़ी सरकारों के समान आर्थिक संसाधन नहीं हैं, तथापि इन लोगों ने यहाँ इधर-उधर बिखरी हुई अनेक मूर्तियों का उद्धार किया और उन्हें अपने मठ की दीवारों में समुचित स्थानों पर लगा दिया। पुरातत्त्व-वेत्ताओं तथा जीर्णोद्धार-कर्ताओं के आने पर संन्यासियों ने उनका स्वागत किया तथा उनकी इच्छा और योजनानुसार अनेक स्थानों पर मरम्मत करायी गयी तथा मूर्तियों के स्थान-में परिवर्तन कराया।... बोधगया हिन्दू धर्म की समन्वयी शक्ति का प्रतीक है, अत: इसे कदापि विभिन्न सम्प्रदायों के हाथों का खिलौना नहीं बनने दिया जाना चाहिये।"[८८]

स्टेट्समैन के अतिरिक्त उन्होंने ऐडवोकेट, टाइम्स ऑफ इंडिया, ट्रिब्यून, बाम्बे क्रानिकल, बिहार हेराल्ड, हिन्दू तथा मराठा आदि समाचार-पत्रों के सम्पादकीय स्तम्भों में अपने अत्यन्त युक्तिपूर्ण मत को अभिव्यक्ति दी थी।

बोधगया विषय पर उनका सुप्रसिद्ध लेख सर्वप्रथम ब्रह्मवादिन पत्रिका के अगस्त १९०४ (वर्ष ४, अंक १३) में प्रकाशित हुआ था, जो बाद में उनके 'फूटफाल्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री' ग्रन्थ में संकलित हुआ। इस लेख में अन्य बातों के साथ उन्होंने बताया था – "भारत में कभी हिन्दू तथा बौद्ध नाम के दो प्रतिस्पर्धी धर्म थे – यह विचार विशुद्ध रूप से यूरोपीय कल्पना की उपज है, जिसका उद्देश्य है यूरोपीय लोगों के स्वार्थ के अनुसार एशियाई राजनीति को प्रभावित करना। यह बात बारम्बार दुहराने की जरूरत नहीं है कि भारत में कभी बौद्ध नाम का कोई ऐसा धर्म था, जिसके अपने भिन्न मन्दिर, पुरोहित तथा मतवाद रहे हों; और न ही हिन्दू नाम के किसी धर्म का अस्तित्व था।... मुस्लिम काल के पूर्व हिन्दू धर्म के नामकरण का विचार तक असम्भव था और इसे तब तक परिभाषित नहीं किया जा सका था, जब तक कि स्वामी विवेकानन्द ने १८९३ ई. में शिकागो की धर्ममहासभा में अपना प्रसिद्ध व्याख्यान दिया, जिसे सम्पूर्ण भारत ने स्वीकार किया और प्रामाणिकता प्रदान की। अत: यह सोचना ही बकवास है कि भारत में हिन्दू धर्म ने बौद्ध धर्म पर विजय प्राप्त की और बोधगया मन्दिर के संरक्षण का अधिकार एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय के हाथों में चला गया।"[८९]

तीसरी बोधगया यात्रा

इसी वर्ष दुर्गापूजा की छुट्टियों में निवेदिता एक बार फिर बोधगया गयीं। इस बार वे रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द का विशेष आशीर्वाद लेकर आयी थीं। उनके देशप्रेम की दृष्टि से यह मन्दिर हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। ब्रह्मानन्दजी की सलाह पर इस बार एक ऐसी यात्रा आयोजित की थी, जो एक ऐतिहासिक तीर्थयात्रा सिद्ध होने वाली थी। इस बार उनकी विशाल टोली में कुल २० लोग थे – भगिनी क्रिस्टिन, प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस, श्रीमती अबला बोस, विख्यात कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर, उनकी पत्नी, पुत्र तथा भतीजे; प्रमुख पत्रकार श्री तथा श्रीमती रैटक्लिफ, त्रिपुरा-राजकुमार का पुत्र, इन्द्रनाथ नन्दी, प्रो. चन्द्र डे, स्वामी सदानन्द तथा उनके विशेष संरक्षण में तीन छात्र और ब्रह्मचारी अमूल्य। पटना से महान् इतिहासज्ञ प्रो. जदुनाथ सरकार तथा श्री मथुरानाथ सिन्हा भी शामिल हो गये। बोधगया पहुँचकर वे लोग महन्त के अतिथि हुए, जिन्होंने इन लोगों का राजाओं की भाँति सत्कार किया।[९०]

वहाँ उन लोगों ने चार दिन बिताये थे। निवेदिता प्रतिदिन कभी वारेन के बौद्ध ग्रन्थ से और कभी एडविन अर्नाल्ड की 'लाइट ऑफ एशिया' से पाठ करके सबको सुनातीं। अपनी धीर-गम्भीर आवाज के उतार-चढ़ाव द्वारा वे बुद्ध के जीवन तथा कार्यों का सजीव चित्रण प्रस्तुत कर देतीं। कभी-कभी रवीन्द्रनाथ अपने किसी गीत या कविता की आवृत्ति करते।

दिन में वे लोग मन्दिर के प्रांगण में टहलते या फिर आसपास के गाँवों में घूमने चले जाते। संध्या के समय सूर्यास्त होने के साथ ही जब चारों ओर निस्तब्धता फैल जाती, तब गोधूलि के मन्द आलोक में वे लोग बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान करते हुए उस स्थान के माहात्म्य को आत्मसात् करने का प्रयास करते।

यहीं उनकी फूजी नाम के एक निर्धन जापानी मछुआरे से भेंट हुई। जीवन भर उसकी एक ही इच्छा रही कि जिस स्थान पर भगवान बुद्ध को ज्ञान हुआ था, उसका दर्शन करना। इस स्वप्न के रूपायन हेतु उसने जीवन भर अपना

---

८८. Complete Works of Sister Nivedita, Vol. V, 1975, p. 345

८९. Complete Works of Sister Nivedita, Vol. 4, 1983, P. 193

९०. The Dedicated, Samata Books, 1985, Pp. 308-10

पेट काट-काटकर पैसा जुटाया था। आखिरकार वह भारत आ पहुँचा और बोधगया की पवित्र भूमि का स्पर्श करके उसका जीवन धन्य हो गया। वह यात्रियों के लिए निर्मित धर्मशाला में रहता और प्रतिदिन संध्या के समय बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर अस्फुट स्वर में एक स्तोत्र की आवृत्ति करता –

नमो नमो बुद्ध दिवाकराय,
नमो नमो गौतम-चन्द्रिकाय ।
नमो नमो अनन्त-गुण-नराय
नमो नमो शाक्य-नन्दनाय ।।

जापानी पद्धति से उच्चरित यह प्रार्थना घण्टियों की ध्वनि के समान कानों को बड़ी मधुर लगती तथा पूरा परिवेश एक पवित्र भाव से परिपूर्ण हो जाता। सबको लगता मानो वह इस पवित्र स्थान के पावित्र्य में अभिवृद्धि कर रहा हो। सभी लोग फूजी से बड़े आकृष्ट हुए थे, इसीलिये निवेदिता की डायरी, रवीन्द्रनाथ की रचना तथा यदुनाथ सरकार के लेख में भी उसका उल्लेख मिलता है।[९१]

एक दिन शाम को निवेदिता ने प्रस्ताव रखा, "चलिये, हम लोग सुजाता का घर देख आयें। वहाँ कोई खण्डहर या ध्वंसस्तूप नहीं है। उस जगह के चारों ओर घास उगी हुई है, परन्तु स्थान अति पवित्र है। सुजाता एक आदर्श गृहिणी थीं, क्योंकि उन्होंने ही बुद्धदेव को उपयुक्त समय पर आहार दिया था। जिस गाँव में सुजाता निवास करती थी, उसका पूर्वनाम था उरुबिल्व, जो अब उरबेल हो गया है। भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के बाद सुजाता की लायी हुई खीर को ग्रहण करके ही अपना उपवास तोड़ा था। यद्यपि वहाँ सुजाता के घर का कोई चिह्न मात्र भी न था, तथापि यहाँ पहुँचते ही निवेदिता हर्ष से अधीर हो उठीं। वहाँ की जरा-सी मिट्टी को उठाकर श्रद्धापूर्वक अपने सीने से लगाते हुए वे बोल उठीं, "यह सारा स्थान ही अत्यन्त पवित्र है।"[९२]

एक दिन अँधेरी रात के समय, वे अपने साथियों के साथ नक्षत्र-खचित आकाश के नीचे मन्दिर की छाया में बैठ गयीं। लालटेनें मद्धिम करके झाड़ियों के पीछे रख दी गयी थीं। भगिनी सहसा अतीत की स्मृतियों में डूब गयीं और भावविभोर होकर अपनी अद्भुत अन्तर्दृष्टि के साथ बौद्धयुग के सच्चे इतिहास का वर्णन करने लगीं। सभी एकाग्रतापूर्वक उनकी बातें सुनने लगे – "प्रारम्भ में बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नहीं था। बुद्धदेव एक हिन्दू थे, जो अपने समकालीन आचार्यों से उच्चतर तथा महत्तर थे। उनके अनुयाई हिन्दू समाज के ही अंगीभूत थे। वे अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं मानते थे, बल्कि पड़ोसियों की तुलना में स्वयं को थोड़ा अधिक पवित्र तथा निष्ठावान जीवन बितानेवाला हिन्दू मानते थे; ठीक वैसे ही जैसे रामकृष्ण के अनुयाई स्वयं को हिन्दू समाज से भिन्न नहीं मानते। वे हिन्दू समाज के ही अंग हैं, भेद इतना ही है कि वे अपने गुरु को अन्य समकालीन सन्तों तथा आचार्यों की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानते हैं। पूरे बौद्धयुग के दौरान हिन्दू धर्म जीवन्त था, यद्यपि बौद्ध लेखक इस विषय में मौन हैं। यदि मैं अपने गुरुदेव (विवेकानन्द) के जीवन तथा सन्देश पर कोई ग्रन्थ लिखूँ, तो स्वाभाविक रूप से ही उसमें वैष्णवों का कोई उल्लेख नहीं होगा; क्योंकि मैं उसमें अपने युग का महानतम आचार्य के रूप में अपने गुरुदेव का ही वर्णन करूँगी। तो क्या परवर्ती इतिहासकार मेरे ग्रन्थ के आधार पर यह निष्कर्ष निकालेंगे कि रामकृष्ण के भक्तों ने वैष्णव-धर्म से भिन्न सम्प्रदाय की सृष्टि की थी या चैतन्य के अनुयाइयों को हिन्दू समाज से बाहर निकाल दिया और क्रूरता के साथ उन्हें मार डाला? हिन्दुओं के उत्पीड़न के फलस्वरूप भारत से बौद्धों का लोप – मुझे तो यह एक मनगढ़न्त कहानी प्रतीत होती है। ईसाई तथा इस्लाम धर्म के बीच जैसी शत्रुता थी, वैसी हिन्दुओं तथा बौद्धों के बीच कभी नहीं थी।"[९३]

बोधगया-प्रवास के दौरान उन्हें मिस मैक्लाउड का एक पत्र मिला। राजगीर पहुँचने के बाद १५ अक्तूबर को दुर्गापूजा के दिन उस पत्र का उत्तर लिखा, जिसमें इस यात्रा का संक्षेप में प्रामाणिक वर्णन प्राप्त होता है – "We have been a party of 20 spending 4 days at Bodh-Gaya – in the Guest-House – and I think it has been an event in all our lives. The Boses were there – and 2 children, 4 in all. The Poet (Rabindra Nath Tagore) was there with his son and a friend – a prince with his tutor. 3 of my boys, a distinguished scholar and another friend, and Swami Sadananda, and his nephew, also Christine. In the mornings we had tea by 6 and then readings – Light of Asia – Web of Indian Life etc., and talks. All gathered together in the great verandah. Our Mahant is like a king. Evenings – we went our after fea – to the Temple and Tree – House of Sujata and so on. We talked History, Nationality, Swamiji, Sri Ramakrishna and the rest."[९४]

इतिहासकार श्री जदुनाथ सरकार के मानस-पटल पर इस यात्रा की स्मृतियाँ अमिट रूप से अंकित हो गयी थीं और अनेक प्रसंगों में वे प्रकट हो उठती थीं। वे ऐतिहासिक सत्यों के विषय में निवेदिता की अभूतपूर्व अन्तर्दृष्टि से युक्त समझ को देखकर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके थे। "निवेदिता ने जब सर जे.सी. बोस तथा डॉ. रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ बोधगया में प्रवास किया था, उस समय मैं भारतीय शास्त्रों, शिल्पकलाओं, लोकगाथाओं तथा संस्कृति के विषय में

९१. भगिनी निवेदिता (बँगला), प्र. मुक्तिप्राणा, १९६३, पृ. २८१-२
९२. वही, पृ. २८२
९३. Complete Works of Sister Nivedita, Vol. V, 1975, p. 367
९४. Letters of Sister Nivedita, Ed. 1982, Vol 2, p. 685

उनकी अन्तर्भेदी व्याख्या-शक्ति को देखकर चमत्कृत हो गया था। रवीन्द्रनाथ ने निवेदिता की इस क्षमता की विशेष प्रशंसा की थी। स्वयं कवि में भी अभिव्यक्ति की क्षमता थी, पर वे बोले – निवेदिता तत्काल ही वस्तु के हृदय में पहुँच जाती हैं और वे उसकी अद्भुत रूप से प्रस्तुति भी करती हैं।''[९५]

''उनकी एक ऐसी ही व्याख्या ने मुझे विशेष रूप से मुग्ध किया था। बौद्ध ग्रन्थ कहते हैं कि जब राजकुमार गौतम – सत्य की प्राप्ति हेतु – एक घास के गट्ठे पर बैठे हुए दिन-पर-दिन ध्यान कर रहे थे, तो देवराज इन्द्र ने उन्हें देखकर उनके लिये सिंहासन (वज्रासन) भेजा। अपनी इस बोधगया यात्रा के समय हमने बाँसों की छत के नीचे पड़े हुए उस विशाल गोलाकार प्रस्तर-खण्ड को देखा, जिसके किनारे पर व्रज का चित्र खुदा हुआ। निवेदिता ने कहा, 'जब कोई व्यक्ति अपना पूरा मन-प्राण मानवता की भलाई में लगा देता है, तो वह देवताओं के हाथ में वज्र के समान शक्तिमान बन जाता है।' इसीलिये उन्होंने अपनी पुस्तकों में भारतीय (या तिब्बती) वज्र के चिह्न को प्रतीक के रूप में अपनाया था। सर जे. सी. बोस ने भी ऐसा ही किया था।''[९६]

उन्होंने कहा था, ''अपनी क्षमता में विश्वास से ही राष्ट्र की मूल शक्ति प्रकट होती है; और अपने पूर्वजों के गौरव में श्रद्धा होने से यह विश्वास स्वयं ही जन्म लेता है; क्योंकि वहीं से उसे आश्वासन मिलता है कि अतीत काल में वह जो कुछ कर सका है, वह भविष्य में भी करने में समर्थ है। इसीलिये निवेदिता प्राचीन भारत के गौरव की घोषणा करतीं और हमें भी वैसा ही करने को प्रेरित करतीं। उनका यह गौरवबोध केवल आध्यात्मिक संस्कृति तक ही सीमित नहीं था; अपितु ललित कला, शिल्पकला, विज्ञान तथा वाणिज्य के क्षेत्र में भी था।... वे आधुनिक युग की आवश्यकताओं को कभी विस्मृत नहीं करती थीं और इस दृष्टि से वे हिन्दू पुनरुत्थानवादियों से बिल्कुल भिन्न थीं।... स्वामी विवेकानन्द ने हमें जो बताया था कि हिन्दू आध्यात्मिकता का आधुनिक आर्थिक गतिविधियों तथा आधुनिक विज्ञान से कोई विरोध नहीं है, बल्कि वे हिन्दुओं के दीर्घकालीन आध्यात्मिक उन्नति के लिये पूरी तौर से आवश्यक हैं। इस बात को निवेदिता ने स्पष्ट रूप से समझा था। बोधगया में जब मेजबान – महाविद्वान् तथा सत्स्वभाव के महन्त ने ज्ञान के प्रचार हेतु (विश्वविद्यालयों में) कुछ पीठों की स्थापना कराने की इच्छा व्यक्त की, तो भगिनी निवेदिता (और सर जे.सी. बोस ने भी) उनसे बताया कि संस्कृत भाषा या दर्शन-शास्त्र के शिक्षण का कोई अभाव नहीं है, बल्कि यह अनुदान तो उच्चतर वैज्ञानिक शिक्षण के लिये होना चाहिये।''[९७]

९५. रेमिनिसेंसेज ऑफ सिस्टर निवेदिता, प्रबुद्ध भारत, जुलाई १९४३

९६. Bulletin of the Ramakrishna Mission..., 1952, p. 208

अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक यदुनाथ सरकार उस यात्रा को बारम्बार याद करते रहे। वहाँ निवेदिता ने उनसे कहा था, ''अपने ध्वज को किसी भी विदेशी के आगे मत झुकाना। जीवन के जिस भी क्षेत्र में तुम कार्यरत हो, उसी में अपना नाम रौशन करो। ऐसा प्रयत्न करना कि किसी विदेशी सत्ता के सामने कभी अपनी गर्दन न झुकानी पड़े। कभी किसी विदेशी का अनुकरण मत करना। अपने हृदय में सदैव इस भाव को जाग्रत रखो।''[९८]

बोधगया से विदा लेने के पूर्व निवेदिता सारी रात यह कहते हुए रुदन करती रहीं, ''हम लोग असफल रहे हैं। देश को अब भी गहरी निद्रा से जगाया नहीं जा सका है; इसमें फिर से जीवन का संचार नहीं हो सका। लोग मेरी बातें सुनते हैं, परन्तु अपनी उसी पुरानी चाल पर चलते रहते हैं। हम लोग कुछ भी नहीं कर सके। जिस महान् तेज ने कभी भारत को विश्व का सिरमौर और एशिया का हृदय बना दिया था, उसका पुनर्जागरण नहीं हुआ। अपनी जिस महान् विरासत के फलस्वरूप इस देश ने कभी चिन्तन-जगत् तथा मानवीय सभ्यता के विकास के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बना रखा था, उसके प्रति सचेत होगा? भारत की वह सजीवता, वह चेतना फिर कब लौटेगी?''[९९]

जब वे बोधगया से लौट रही थीं, तो उनके साथ रवीन्द्र नाथ टैगोर-परिवार, बोस दम्पति तथा अन्य कई लोग थे। गया स्टेशन पर सब अपने-अपने ट्रेनों की प्रतीक्षा कर रहे थे। बोस दम्पति बम्बई मेल से कलकत्ता जा रहे थे। उनकी गाड़ी पहले आयी। दो अंग्रेज सज्जनों ने प्रथम श्रेणी के डिब्बे पर कब्जा जमा रखा था। वे नहीं चाहते थे कि कोई भारतीय उस डिब्बे में घुसे, अतः उनमें से एक स्टेशन मास्टर की ओर दौड़ा, पर स्टेशन मास्टर इस मामले में कुछ करने से मना कर दिया। जब वह विफल होकर वापस लौटा, तो उसने देखा कि निवेदिता बड़ी निर्ममता के साथ उस दूसरे अंग्रेज को खरी-खोटी सुनाते हुए धिक्कार रही हैं। अंग्रेज ने तत्काल डिब्बे का दरवाजा खोला, ताकि बोस दम्पति ट्रेन में चढ़ सकें। क्षण भर बाद ही ट्रेन ने सीटी दी और चल पड़ी। ट्रेन के चले जाने के बाद भी निवेदिता बड़ी कठिनाई से अपना क्रोध शान्त कर सकीं। उन्हें लग रहा था कि यदि अंग्रेज इसी क्षण भारत छोड़ जायें, तभी उनका मन शान्त हो सकेगा। उसी समय उनकी ट्रेन भी आ पहुँची। इस ट्रेन में प्रथम श्रेणी के दो डिब्बे थे। एक में एक अंग्रेज महिला थीं और दूसरे में एक भारतीय सज्जन। जब निवेदिता का सामान अंग्रेज महिलावाले डिब्बे में रखा जाने लगा, तो वे बोलीं –

९७. वही, पृ. २०८-०९;

९८. सिस्टर निवेदिता, आत्मप्राणा, पृ. ३०६

९९. Ibid, Vol. V, 1975, p. 367-68; See The Dedicated, p. 310

मैं इस डिब्बे में नहीं बैठूँगी। अत: उनका सामान भारतीय वाले डिब्बे में रख दिया गया। उन सज्जन ने तत्काल उठकर उनके लिए जगह बनायी। अपनी जगह पर बैठने के बाद निवेदिता ने अपने साथी से कहा, "एक असभ्य अंग्रेज और एक सभ्य भारतीय में अन्तर तुमने देख लिया न।"[१००]

आखिरकार महन्त के पक्ष में मामले का निपटारा हो गया और मन्दिर की व्यवस्था का अधिकार हिन्दू महन्त के अधिकार में ही बना रहा। इस निपटारे के बाद महन्त ने निवेदिता को वज्र की एक प्रतिकृति भेजी और उसके साथ एक प्रार्थना भी थी – "आप एक ऐसी रिक्त मार्ग बनें, जिससे होकर परमात्मा की इच्छा प्रवाहित होती रहे।"[१०१] उन्होंने वज्र को भारत का राष्ट्रीय प्रतीक बनाने का प्रस्ताव रखते हुए एक लेख लिखा था और उसे समाहित करते हुए राष्ट्रध्वज के तीन नमूने भी बनाये थे।[१०२]

जब निवेदिता कलकत्ता वापस आयीं तब स्वामी ब्रह्मानन्द ने सुझाव दिया कि वह कुछ युवकों को लेकर बुद्धगया में एक इतिहास शिक्षा संस्था प्रारम्भ करें। निवेदिता की इच्छा थी कि यह संस्था खास स्नातकोत्तर छात्रों के लिए हो। पर उनकी यह योजना कार्यान्वित न हो सकी।[१०३]

इस प्रकार हमने देखा कि स्वामी विवेकानन्द तथा उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता ने कई बार बोधगया की यात्राएँ की थीं। उनके अन्य कुछ गुरुभाई भी वहाँ गये थे। ये सभी यात्राएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक थीं, पर इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक अन्य व्यक्ति ने भी बोधगया की ऐतिहासिक यात्रा की थी, और वे थीं भगवान श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी अर्थात् स्वामीजी की गुरुमाता श्री सारदा देवी। वहीं के हिन्दू मठ को देखकर उनके मन में श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के लिये मठ निर्माण की परिकल्पना आयी और इसी के फलस्वरूप कलकत्ते के निकट बेलूड़ ग्राम में एक स्थायी मठ की स्थापना हुई।

इसी प्रसंग में एक बार उन्होंने कहा था – "अहा, इसके लिए मैं ठाकुर के पास कितना रोई हूँ, प्रार्थना की हूँ। तभी तो आज उनकी कृपा से मठ आदि सब हुआ है।" फिर उन्होंने विस्तारपूर्वक कहा – "श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के पश्चात् संसार त्याग करके ये लड़के कुछ दिन एक स्थान में एक साथ जुटे थे। बाद में एक-एक करके स्वतंत्र रूप से इधर-उधर घूमने के लिए निकल गये। तब मेरे मन में बड़ा दु:ख हुआ। मैं ठाकुर के सामने यही कहकर प्रार्थना करने लगी, 'ठाकुर, तुम आये और कुछ लोगों को लेकर लीला करके आनन्द करके चले गये और इस तरह क्या सब खतम हो गया? तब तो इतना कष्ट करके आने की क्या आवश्यकता थी? काशी, वृन्दावन में तो मैंने देखा है कितने ही साधु भिक्षा करके खाते हैं और पेड़ों के नीचे निवास करते हैं। ऐसे साधुओं का तो अभाव नहीं है। तुम्हारे नाम पर सब कुछ त्याग कर मेरे लड़के दो दाने अन्न के लिये इधर-उधर भटकते रहेंगे – यह मैं नहीं देख पाऊँगी। मेरी प्रार्थना है कि तुम्हारा नाम लेकर जो भी निकले, उन्हें मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न हो। वे लोग तुम्हें तथा तुम्हारे भाव और उपदेश को लेकर एक साथ रहे तथा इस संसार-ज्वाला से दग्ध लोग उनके पास आकर तुम्हारी बातें सुनकर शान्ति लाभ करे। इसीलिए तो तुम्हारा आगमन हुआ है। उनका इधर-उधर घूमना देखकर मेरे प्राण व्याकुल हो उठे हैं।' इसके बाद से नरेन ने धीरे-धीरे यह सब किया।"[१०४]

अन्य समय उन्होंने कहा था – "बोधगया का मठ और उन लोगों की सब सम्पत्ति आदि देखकर तथा यह देखकर कि उन लोगों को किसी चीज का अभाव नहीं है, कोई कष्ट नहीं है – मैं रोती और ठाकुर से कहती, 'ठाकुर, मेरे लड़कों को रहने को जगह नहीं, भोजन नहीं, वे दर-दर घूमते फिरते हैं। काश! उनके लिए भी इस तरह रहने की एक जगह होती!' सो ठाकुर की इच्छा से मठ हुआ।"[१०५]

घटना इस प्रकार हुई – १८७६ ई. में श्रीरामकृष्ण की माता चन्द्रामणि देवी का देहान्त हुआ था। उन्होंने श्रीमाँ सारदादेवी को निर्देश दिया था कि वे यथासमय गयाधाम जाकर श्रीविष्णुपाद-पद्मों में उनकी माता के लिए पिण्डदान कर आयें। श्रीरामकृष्ण की नरलीला समाप्त हो जाने के कुछ वर्षों बाद १८९० ई. में २५ मार्च के दिन गयाधाम की यात्रा की थी। उनके साथ वृद्ध स्वामी अद्वैतानन्द भी गये थे। गया में तीर्थकृत्य सम्पन्न करने के बाद वे बोधगया भी गयीं। २ अप्रैल को कलकत्ते लौटीं।[१०६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बोधगया का यह हिन्दू मठ रामकृष्ण संघ के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखता है।
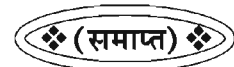
१००. सिस्टर निवेदिता, प्रव्राजिका आत्मप्राणा, नागपुर, पृ. ३२०

१०१. The Dedicated, Pp. 308;

१०२. Complete Works of Nivedita, Vol. V, p. 166-70

१०३. सिस्टर निवेदिता, प्रव्राजिका आत्मप्राणा, नागपुर, पृ. २१७

१०४. माँ की बातें, अखण्ड सं. २०१०, पृ. १६६ (स्वामी ईशानानन्द)

१०५. वही, पृ. ६५ (स्वामी अरूपानन्द)

१०६. श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी गम्भीरानन्द, २००७, पृ.१३६

स्वामी स्वरूपानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

१९०५ ई. में काँगड़ा जिले के धर्मशाला नामक स्थान में एक बड़ा भयंकर भूकम्प आया। इस अवसर पर भी राहत कार्य के लिये स्वरूपानन्द ने चन्दा एकत्र करने का कार्य किया। उनके एक गुरुभाई स्वामी निर्भयानन्द तथा एक ब्रह्मचारी ने उनके निर्देशानुसार यह कार्य सम्पन्न किया।

सेवा तथा साधना के एक सुन्दर समन्वय के रूप में स्वरूपानन्द का जीवन खिल उठा था। कई तरह के कर्मों के बीच भी वे कभी ध्यान-धारणा तथा शास्त्र-चर्चा से विरत नहीं हुए। कर्मसंकुल दिन की समाप्ति के समय, जब हिमालय की चोटियों पर रात्रि का अन्धकार उतर आता, तब स्वरूपानन्द आत्मचिन्तन में डूब जाते। रात में जब चाँदनी छिटक उठती, तो वे हाथ में एक दण्ड लिये, एकाकी भगवच्चिन्तन के लिये आश्रम से थोड़ी दूरी पर स्थित, वन्य पशुओं से युक्त घोर जंगल के भीतर चले जाते। एकान्त में जप-ध्यान करने हेतु उन्होंने एक कुटिया बना रखी थी। एक बार ध्यान के बाद गहरी रात के समय आश्रम लौटने के लिये कुटिया से बाहर निकलने पर उन्होंने देखा कि वहाँ एक बाघ बैठा हुआ है। मदर सेवियर ने यह घटना सुनने के बाद स्वरूपानन्द को रात के समय जप-ध्यान करने के लिये ऐसे घोर जंगल में जाने से मना किया। बाद में उन्होंने आश्रम से जुड़े एक वन्य स्थान में एक नवीन कुटिया का निर्माण करा दिया। इस अपेक्षाकृत निरापद कुटिया में वे यथेच्छा जाकर साधना किया करते – स्वाध्याय तथा वेदान्त-चिन्तन में निमग्न हो जाते। स्वरूपानन्द की साधना की स्मृतियों का मूक साक्षी वह जीर्ण कुटीर आज भी खड़ा है। घोर रात के समय जब नगाधिराज हिमालय की गम्भीर तथा प्रशान्त चोटियाँ चन्द्रमा की स्निग्ध किरणों से नहा उठतीं, तब अन्तर्मुखी स्वरूपानन्द के चित्त में योगेश्वर शिव का रूप मूर्तिमान हो उठता और वे इस उद्दीपना से पुलकित हो उठते। विराट् के महिमा-बोध के आनन्द में कभी-कभी वे अपने गुरुभाइयों को साथ लेकर पहाड़ी पथों में परिभ्रमण किया करते। हिमालय की प्राकृतिक दृश्यावली ब्रह्मप्राण स्वरूपानन्द के हृदय में असंख्य भावों के झंझावात उत्पन्न कर देती।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश के प्रचार में उनके उत्साह तथा उद्यम की सीमा न थी। विशेषकर युवक तथा छात्रगण इस युगधर्म को अपने जीवन में स्वीकार करके धन्य हो जायँ, इसके लिये उन्होंने अक्लान्त चेष्टा की थी। नैनीताल, अल्मोड़ा, इलाहाबाद, कलकत्ता – वे जहाँ कहीं भी जाते, सर्वत्र ही युवकों तथा छात्रों के बीच जाकर उन्हें विविध प्रकार से उत्साहित करते। वे प्राय: ही कहते, "छात्रों में ही भविष्य की हमारी सारी आशाएँ निहित हैं। अहा ! आजकल वे लोग मान, यश, राजनीति आदि के व्यर्थ चेष्टाओं में कुछ काल उन्मत्त रहने के बाद विवाह-शृंखला में आबद्ध होकर सदा-सर्वदा के लिये संसार में डूब जाते हैं। देश के लिये यथार्थ त्याग-धर्म वे लोग कब सीखेंगे?" वे युवकों को हमेशा त्याग के आदर्श में अनुप्राणित करते रहते।

स्वरूपानन्द की गुरुभक्ति सचमुच ही एक उदाहरण सदृश थी। स्वामीजी के अति नगण्य शिष्य के रूप में अपना परिचय देते हुए उन्हें असाधारण गौरव का बोध होता था। एक बार जब वे किशनगढ़ में निवास कर रहे थे, तो वहाँ के दीवान साहब ने अपने एक मित्र के समक्ष स्वरूपानन्द का परिचय देते हुए भूल से कह दिया था कि वे महात्मा विवेकानन्द के गुरुभ्राता हैं। गुरुभक्त स्वरूपानन्द ने तत्काल आपत्ति जताते हुए उसमें संशोधन कर दिया, "मैं स्वामी विवेकानन्द का एक अति नगण्य शिष्य तथा अनुगत सेवक मात्र हूँ।" दीवान साहब इस अद्भुत सत्यनिष्ठा पर अत्यन्त मुग्ध हुए थे; और इससे उनके प्रति उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गयी थी। १९०१ ई. में इन दीवान साहब ने स्वरूपानन्द को दिल्ली के दरबार में आमंत्रण भेजकर वहाँ आये हुए राजाओं से उनका परिचय भी करा दिया था। बड़ौदा के राजा वहाँ उनके साथ सच्चर्चा करके इतने मुग्ध हुए थे कि उसके बाद से वे श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा के प्रति काफी श्रद्धासम्पन्न हो गये थे; और उन्होंने उनको तथा स्वामीजी को कुछ काल बड़ौदा रियासत में रहकर धर्म-प्रचार करने का निमंत्रण भी दिया था। स्वरूपानन्द के एक पत्र से यह सूचना पाने के बाद उत्तर में स्वामीजी ने मठ से स्वयं ही लिखा था (१५ मई, १९०१) – "प्रिय स्वरूप, नैनीताल से लिखा हुआ तुम्हारा पत्र विशेष उत्साह-वर्धक है। ... यदि बड़ौदा के महाराजा के साथ भेंट करने से सचमुच ही कोई कार्य हो, तो मैं जाने को राजी हूँ।" आदि। स्वामीजी तब पूर्व बंगाल तथा आसाम की यात्रा करके हाल ही में लौटे थे और उनका शरीर काफी थका हुआ तथा अस्वस्थ

था। इसीलिये आखिरकार उनके लिये महाराजा के आमंत्रण को स्वीकार करना सम्भव नहीं हो सका था।

स्वरूपानन्द का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्यम था – स्वामीजी की ग्रन्थावली के प्रकाशन का आयोजन। इसका थोड़ा-बहुत मुद्रण उन्होंने आरम्भ भी कर दिया था, यद्यपि विधाता की इच्छा न होने से, वे इस कार्य को पूरा करके नहीं जा सके। प्रचण्ड कर्मठता के बीच भी स्वरूपानन्द की शास्त्रचर्चा के अभ्यास में कोई बाधा नहीं आयी। उनके द्वारा अंग्रेजी में अनूदित 'भगवद्-गीता' आज भी विद्वज्जनों द्वारा समादृत है। 'प्रबुद्ध भारत' पत्रिका के विभिन्न अंकों में उनके द्वारा लिखित वेदान्त-विषयक लेख सचमुच ही उनकी विद्वत्ता के परिचायक हैं।

पूना के डकन कॉलेज के प्राध्यापक नेलसन फ्रेजर ने इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दुस्तान रिविउ' नामक पत्रिका के जनवरी १९०३ अंक में स्वामीजी की समालोचना करते हुए 'Swami Vivekananda – A Criticism' शीर्षक से एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा। विद्वान् प्राध्यापक को स्वामीजी के विषय में कुछ भ्रान्ति हुई थी। लेख में प्रकाशित उनके विभिन्न वक्तव्यों के माध्यम से स्वामीजी के विषय में उनके ज्ञान का अधूरापन ही व्यक्त हुआ था। उसी पत्रिका के अगले ही फरवरी अंक में तथा इलाहाबाद के ही 'कायस्थ-समाचार' में स्वरूपानन्द ने प्राध्यापक फ्रेजर का भ्रान्ति-निवारण करते हुए 'Swami Vivekananda – A Rejoinder' शीर्षक से एक प्रतिवादात्मक लेख लिखा। उनका यह ज्ञानगर्भित लेख 'प्रबुद्ध भारत' के अप्रैल अंक में भी मुद्रित हुआ था। युक्ति तथा प्रमाणों पर आधारित स्वरूपानन्द के प्रतिवाद-प्रबन्ध को पढ़कर प्राध्यापक फ्रेजर मुग्ध हुए और उन्होंने निष्कपट भाव से अपनी भूल स्वीकार करते हुए मार्च माह के 'हिन्दुस्तान रिविउ' में सम्पादक के नाम अपना एक पत्र प्रकाशित कराया। उसमें उन्होंने लिखा था, "I write to acknowledge the force of the rejoinder which Swami Swarupananda makes in your February number to my article on Swami Vivekananda. It is clear that I did not do him justice." (स्वामी विवेकानन्द विषयक मेरे लेख के प्रतिवाद-स्वरूप आपके फरवरी अंक में स्वामी स्वरूपानन्द ने जो लेख लिखा है, उसकी सबलता को स्वीकार करने हेतु ही मैं यह पत्र लिख रहा हूँ। अब यह स्पष्ट हो गया है कि मैंने उनके प्रति अन्याय किया है।)

एक बार स्वामी तुरीयानन्द जी ने उनसे वेदान्त-प्रचार हेतु अमेरिका आने का आग्रह किया था। अमेरिका से स्वरूपानन्द को उत्साहित करते हुए उन्होंने कई पत्र लिखे थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "यहाँ अनेक पिपासु हैं, यदि आना मंजूर हो और कहो, तो व्यवस्था करूँ।... यहाँ बहुत कार्य है।... यदि स्वीकार हो, तो मैं प्रयास करूँ। चले आओ, सब ठीक हो जायेगा।" स्वरूपानन्द भारत का कार्य छोड़कर विदेश जाने को राजी नहीं हुए।

मायावती का कार्यभार ग्रहण करने के बाद स्वरूपानन्द केवल दो बार ही कलकत्ते आ सके थे। १९०६ ई. में वे द्वितीय तथा अन्तिम बार बेलूड़ मठ आये। इस बार वे मदर सेवियर के साथ किसी कार्य हेतु आये थे। तभी कलकत्ते के चिकित्सकों ने उनके हृदय की दुर्बलता का निदान किया। वहाँ विशेषज्ञों की सलाह के अनुसार औषधि-पथ्य आदि का सेवन करके थोड़े सबल होने पर वे पुन: मायावती लौट गये। 'प्रबुद्ध भारत' का सतत वर्धमान कार्य ने उन दिनों मदर तथा स्वरूपानन्द को थोड़ा उद्विग्न कर दिया था। उस समय उन लोगों के मन में यह विचार भी आया कि जन-समुदाय से दूर मायावती जैसे दुर्गम स्थान की अपेक्षा अल्मोड़ा या नैनीताल जैसे स्थान में 'प्रबुद्ध भारत' का कार्यालय स्थानान्तरित कर देने से स्वामीजी द्वारा कल्पित विराट् कार्य को और भी सुगम तथा सुव्यवस्थित रूप से सम्पन्न किया जा सकेगा। इसी विचार से प्रेरित होकर स्वरूपानन्द ने ६ जून १९०६ ई. को अल्मोड़ा होते हुए नैनीताल की यात्रा की। नैनीताल पहुँचकर स्वरूपानन्द लाला अमर शाह के अतिथि हुए। मार्ग में वे वर्षा से इतने भीग गये थे कि अगले दिन अमर शाह के घर पहुँचकर ही सर्दी तथा बुखार से आक्रान्त हो गये। परन्तु कर्मयोगी स्वरूपानन्द ने तब भी विश्राम नहीं लिया। गुरु विवेकानन्द का चित्र सामने रखकर उन्हीं के चरण-कमलों में बैठकर वे समागत जिज्ञासुओं के साथ निरन्तर धर्मचर्चा कर रहे थे। ये लोकहित-व्रती संन्यासी इसी प्रकार अपने शरीर को तुच्छ मानकर दिन-पर-दिन सतत भगवच्चर्चा में लगे रहते। इससे रोग में क्रमश: वृद्धि होती गयी और आखिरकार उनमें न्यूमोनिया के लक्षण दीख पड़े। २६ जून को स्वरूपानन्द में बोलने तक की क्षमता न रही। लाला अमर शाह तथा अन्य मित्र उनकी जी-जान से सेवा करने लगे। स्थानीय चिकित्सकों ने भी यथासाध्य चेष्टा की। परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। २७ जून (१९०६) को दोपहर के समय स्वरूपानन्द महानिद्रा में निमग्न हो गये। स्वामी सारदानन्द जी ने इस घटना के सन्दर्भ में लिखा है – "फूल खिला था – भ्रमरगण भी मधु के लोभ में नित्य आ रहे थे, परन्तु सहसा वह ओले गिरने से मुरझा गया। अयि, देवि जगन्मात:, उस अपूर्व पुष्प की महिमा नरलोक समझ नहीं सकेगा – क्या इसीलिये तुमने उसे अपने केश में धारण करके उसके गौरव में वृद्धि की?"[७]

७. द्रष्टव्य प्रबासी के फाल्गुन १३१३ (बंगाब्द) अंक में प्रकाशित स्वामी सारदानन्द द्वारा लिखित 'स्वामी स्वरूपानन्द' लेख।

'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर (१९०६) अंक में भगिनी निवेदिता द्वारा लिखित एक शोक-संवाद (In Memoriam) छपा था – " 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादक तथा अद्वैत आश्रम के अध्यक्ष के निधन का समाचार सुनकर गहरा दुख हुआ। तत्काल वियोग की इस पृष्ठभूमि में अब भी कह पाना सम्भव नहीं है कि उन्हें खोकर, हम कितना-कुछ खो बैठे हैं। यद्यपि मैं जानती हूँ कि यह क्षति अपूरणीय है। ... हमारे समान जो लोग स्वामी स्वरूपानन्द को जानते थे, उनके लिये विराट् सम्भावना के शीर्ष पर उन्नीत इन महान् जीवन का स्मरण करते हुए, यह सोच पाना असम्भव है कि मृत्यु द्वारा उस जीवन की परिसमाप्ति हो चुकी है। उनके लिये गम्भीर प्रशान्ति तथा नि:संगता के द्वार उन्मुक्त हो चुके हैं। वह वरेण्य आत्मा, जो परमात्मा से मिलने का आकांक्षी था, आज अपने इच्छित धाम में पहुँच गया है। चरम आत्मत्याग द्वारा उन्होंने मृत्युरूपी उस महा-संन्यास को अर्जित किया। मर्त्यलोक के मनुष्यों के लिये जब भी उनके आविर्भाव की आवश्यकता होगी, तब वे पुन: पूर्ण तेज, नवीन प्राण तथा दान, प्रेम एवं ज्ञान में – निश्चय ही नव जन्म में अभ्युदय प्राप्त करेंगे।"

केवल आठ वर्षों के संन्यास-जीवन में स्वरूपानन्द ने जिस प्रकार युगाचार्य स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट व्यावहारिक वेदान्त को अपने जीवन में रूपायित किया था, उसके फलस्वरूप वे नि:सन्देह चिरकाल तक स्वामीजी के एक उत्तर-साधक के रूप में स्मरण किये जायेंगे। एक बार स्वामीजी ने उनके सिर पर हाथ रखकर कहा था – "देखो स्वरूप, यह बात तुम निश्चित रूप से जान लेना कि मैंने जिस किसी के भी सिर पर हाथ रख दिया है, उसे किसी प्रकार की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।" वे श्रीगुरु के अजस्र आशीर्वाद तथा स्नेह के अधिकारी हुए थे। १९०२ ई. के ९ फरवरी को स्वामीजी ने वाराणसी से अपने प्रिय शिष्य स्वरूप को जो दीर्घ तत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था, उसके उपसंहार स्वरूप उन्होंने लिखा था – "बौद्ध धर्म तथा नव हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के विषय में मेरे विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। उन विचारों को निश्चित रूप देने के लिये कदाचित मैं जीवित न रहूँ, परन्तु उसकी कार्यप्रणाली का संकेत मैं छोड़ जाऊँगा और तुम्हें तथा तुम्हारे गुरुभाइयों को उस पर काम करना होगा। तुम मेरा विशेष स्नेह तथा आशीर्वाद ग्रहण करना।" आचार्य का यह आदेश तथा आशीर्वाद स्वरूप-द्रष्टा स्वरूपानन्द के भीतर सचमुच ही रूपायित हुआ था। स्वरूपानन्द को देखते ही किसी को भी सहज ही धारणा हो जाती थी कि स्वामीजी द्वारा बहु-आकांक्षित वेदान्त का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग क्या है और इसके लिये किसी विचार या विश्लेषण की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। इस प्रसंग में श्रीमती सरलादेवी चौधरानी का एक सुन्दर वक्तव्य यहाँ उद्धृत करने योग्य है –

"मैं उस समय हिमालय में स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित मायावती आश्रम गयी थी। वहाँ मैंने अपने उसी 'अम्बर-चुम्बित भाल हिमाचल' भारतवर्ष को देखा, उसी अपनी 'शुभ्र तुषार किरीटिनी' माँ को देखा। अहा, क्या सौन्दर्य था! केदार और बद्रीनारायण के शिखर नेत्रों के समक्ष झिलमिल-झिलमिल कर रहे थे। इस तुषार-प्राचीर के ऊपर अन्यान्य देश और अन्यान्य सभ्यताएँ हैं; इस पार चिर-सनातन भारतवर्ष तथा भारतीय सभ्यता है, जिसने वेदमंत्रों द्वारा मुखरित होकर भारतीय गगन को निनादित किया था, इसी पर्वतमाला की गुफाओं में आज भी क्या तेरी प्रतिध्वनि गुंजरित नहीं हो रही है? इन्हीं घाटियों की गोद से उठनेवाले मेघपुंज क्या आज भी चिरंजीवी ऋषियों के होमाग्नि-धूम से धूमायित नहीं हैं?... वहाँ देखा, आश्रम के अध्यक्ष स्वामी स्वरूपानन्द – जिनके साथ बेलूड़ मठ में पहली बार भेंट हुई थी – 'प्रबुद्ध भारत' नामक एक अति उच्च कोटि की अंग्रेजी पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं, ब्रह्मचारियों के लिये नियमित रूप से वेदान्त का अध्यापन कर रहे हैं; फिर वे ही अतिथि-अभ्यागतों के सत्कार में कोई त्रुटि न हो, इसके लिये आश्रम के भण्डार का चावल, दाल, आटा, किसमिस, पिस्ता, बादाम आदि निकालकर धूप में सुखाने को डाल रहे हैं, अपने हाथ से उनमें से कीड़े-मकोड़े चुनकर झाड़-झूड़कर फिर से भण्डार में रख रहे हैं। इन लोगों के लिये कोई भी कर्म हेय नहीं है। धीरे-धीरे मेरे मन में आया कि यही तो ज्ञानयोग तथा कर्मयोग का समन्वय है; इन लोगों के इन गृहतुल्य कर्मों में गृहस्थ की स्वार्थपरता नहीं, अपितु केवल कर्तव्य तथा सेवा की अनुप्रेरणा ही विद्यमान है।"[८]

लेखिका की भाषा में मायावती तथा हिमालय की पृष्ठभूमि में वेदान्तनिष्ठ स्वरूपानन्द का एक सजीव चित्र खिल उठा है। स्वरूपत: स्वरूपानन्द विवेकानन्द के ही पदचिह्नों पर चले थे, इसीलिये तो उनके महान् जीवन का रेखाचित्र आज भी इतना महिमामय है।

८. द्रष्टव्य – महर्षि देवन्द्रनाथ ठाकुर की दौहित्री, 'भारती' पत्रिका की सम्पादिका श्रीमती सरलादेवी चौधरानी द्वारा बँगला में लिखित आत्मकथा 'जीवनेर झरापाता'। सरलादेवी ने स्वामीजी का भी दर्शन किया था। उनके नाम लिखित स्वामीजी के कई मूल्यवान पत्र 'विवेकानन्द साहित्य' में संकलित हुए हैं।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२३०. ईश्वर ही संसार में है सबका आधार

प्रसिद्ध उपन्यास 'मदर' के लेखक मैक्सिम गोर्की पहले नास्तिक थे। एकबार लिओ टॉलस्टाय से बातचीत के दौरान उन्होंने कहा कि ईश्वर पर उनका जरा भी विश्वास नहीं है। टॉलस्टाय बोले, ''ईश्वर पर तुम्हारी आस्था न होने की कोई वजह तो होगी।'' ''जब मेरा मन ही उसे नहीं मानता, तो उस पर मैं अपनी आस्था और विश्वास कैसे जताऊँ? – गोर्की ने उन्हीं से प्रतिप्रश्न किया।

''एकदम गलत'' – टॉलस्टाय ने दृढ़ता से कहा, ''नास्तिक होने की भावना तुमने स्वयं ही अपने मन में सँजो रखी है। इसी कारण तुम्हारी वैसी धारणा हो गई है।'' उन्होंने आगे कहा, ''जहाँ तक मैंने तुम्हें समझा है, तुम ऐसे व्यक्ति हो, जो संसार की हर चीज से प्रेम करता है। प्रेम का दूसरा नाम ही आस्था, विश्वास या आस्तिकता है। लेकिन इनमें जरा-सा अन्तर भी है। प्रेम संकीर्ण होता है और आस्था तथा आस्तिकता विस्तृत होते हैं। आस्था विश्वास की बुनियाद पर टिकी है। ईश्वर एक महान् शक्तिमान दिव्य पुंज है। उसके अस्तित्त्व पर विश्वास करके तथा सच्चे अन्त:करण से मनन-चिन्तन करने से उस पर प्रेम होने लगता है। यही प्रेम आगे चलकर श्रद्धा और आस्था में बदल जाता है। यही आस्तिकता है, लेकिन इसके लिए मन का पूर्वाग्रह से दूषित न होना आवश्यक है।''

टॉलस्टाय ने जब देखा कि गोर्की उनकी बातों को बड़े गौर से सुन रहे हैं और उनके शब्दों का असर हो रहा है, तो उन्होंने आगे कहा, ''विश्व के सभी चिन्तक और विचारक इसी निष्कर्ष पर पँहुचे हैं कि ईश्वर एक महान् शक्ति है। वही सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता है। सभी गतिविधियों का संचालन व नियंत्रण उसी शक्ति से हो रहा है। वह सर्वव्यापी और आकार, रंग व रूप से रहित है। मुसलमान इसी एक ईश्वर की अल्लाह के नाम से उपासना करते हैं, तो ईसाई गॉड या प्रभु कहकर उसकी प्रार्थना में लीन हो जाते हैं। यही अल्लाह और गॉड हिन्दुओं का भगवान है और वे उसका भजन-कीर्तन करते हैं। यही बात अन्य धर्मों और सम्प्रदायों की भी है। सभी धर्म इस बात पर एकमत हैं कि ईश्वर एक है और वही सबका कल्याण करता है।''

टॉलस्टाय की मोहक वाणी का गोर्की पर अच्छा असर हुआ। उनकी नास्तिकता जाती रही और उनका ईश्वरीय सत्ता पर दृढ़ विश्वास हो गया।

२३१. वीर वही जो वचन निभाये

एक बार खलीफा उमर का ईरानी सेना के साथ भयंकर युद्ध हुआ। ईरानी सैनिकों ने भरसक मुकाबला किया, किन्तु खलीफा के वीर सैनिकों के सामने उनका शौर्य काम न आया और उन्हें पराजय का मुख देखना पड़ा। जब ईरानी सेनापति को गिरफ्तार कर खलीफा के सामने पेश किया गया, तो उन्हें न जाने क्यों भयंकर गुस्सा आ गया और उन्होंने सेनापति का सिर धड़ से अलग करने का हुक्म दे दिया।

सिपाही जब तलवार लेकर सेनापति के पास जा रहा था, तो सेनापति ने खलीफा से कहा, ''प्यास के मारे मेरा गला सूख रहा है। यदि आप एक गिलास पानी दे दें, तो बड़ी मेहरबानी होगी।'' खलीफा ने कहा, ''उमर इतना जालिम नहीं कि प्यासे दुश्मन की पानी की इच्छा को पूरा न कर सके।'' उन्होंने सिपाही से सेनापति को एक गिलास पानी देने का आदेश दिया। सिपाही एक हाथ में तलवार और एक हाथ में पानी का गिलास लेकर जब सेनापति के पास पहुँचा, तो चमचमाती तलवार सामने देखकर उसे अपने सिर पर मौत मँडराती दिखाई दी और वह इतना डर गया कि गिलास को मुँह से लगाने के बाद भी पानी गले से नीचे उतर नहीं रहा था। खलीफा से उसकी यह हालत छिपी न रही। उनके दिल में दया के भाव उमड़ पड़े। उन्होंने नम्र शब्दों में सेनापति से कहा, ''आप निश्चिन्त होकर पानी पीजिए। हम वादा करते हैं कि जब तक आप गिलास का पानी पी नहीं लेते, तब तक आपका सिर काटा नहीं जाएगा।''

सेनापति ने सुना, तो उसने फौरन हाथ का गिलास जमीन पर फेंक दिया और खलीफा से कहा, ''अब मेरा डर दूर हो गया है। आप फौरन मेरा सिर कलम कर सकते हैं।'' खलीफा के ध्यान में सारी बात आ गई। वे समझ गये कि सेनापति बड़ा ही बुद्धिमान और चतुर है। उन्होंने कहा, ''हम आपकी अकलमन्दी की दाद देते हैं। हम कभी भी वादा-खिलाफी नहीं करते। आपके सिर से हमारा वादा बेशकीमती है। आप अब आजाद हैं। हम आपको बाइज्जत सही-सलामत आप के देश में भेजने का इंतजाम कर रहे हैं।''

❑❑❑

कठोपनिषद्-भाष्य (२४)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।
२/१/११।। (८२)

अन्वयार्थ – **मनसा एव** मन के द्वारा ही **इदम्** इस ब्रह्म को **आप्तव्यम्** प्राप्त किया जा सकता है, **इह** इस ब्रह्म में **किंचन** जरा-सा भी **नाना** भेद, अनेकत्व **न अस्ति** नहीं है; **यः** जो व्यक्ति **इह** इस ब्रह्म को **नाना इव** अनेकत्व जैसी वस्तु **पश्यति** देखता है, **सः** वह **मृत्योः** मृत्यु के बाद **मृत्युम्** मृत्यु को **गच्छति** प्राप्त करता है ।।

भावार्थ – मन के द्वारा ही इस ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है, इस ब्रह्म में जरा-सा भी भेद, अनेकत्व नहीं है; जो व्यक्ति इस ब्रह्म को अनेकत्व जैसी वस्तु देखता है, वह मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता है ।।

भाष्यम् – प्राक्-एकत्व-विज्ञानात् आचार्य-आगम-संस्कृतेन मनसा इदं ब्रह्म-एकरसम् आप्तव्यम् आत्मा एव न अन्यत् अस्ति इति । आप्ते च नानात्व-प्रत्युपस्थापिकायाः अविद्यायाः निवृत्तत्वात् इह ब्रह्मणि नाना न अस्ति किंचन-अणुमात्रम् अपि । यस्तु पुनः अविद्या-तिमिर-दृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति सः मृत्योः मृत्युं गच्छति एव स्वल्पम् अपि भेदम् अध्यारोपयन् इत्यर्थः ।।११ (८२)।।

भाष्य-अनुवाद – एकत्व का ज्ञान न होने तक, आचार्य तथा शास्त्र के उपदेशों से शुद्ध हुए मन के द्वारा, इस एकरस ब्रह्म को – यह आत्मा ही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है – इस रूप में प्राप्त करना चाहिये। ऐसी उपलब्धि होने के बाद नानात्व-रूपी अविद्या की स्थापना करनेवाली अविद्या की निवृत्ति हो जाने से इस ब्रह्म में कण मात्र भी नानात्व (बहुत्व) नहीं रह जाता। दूसरी ओर, जो व्यक्ति अविद्या-रूपी अन्धकारमय दृष्टि को नहीं त्यागता और नानात्व को ही देखता है, वह (ब्रह्म में) अल्प मात्र भी भेद का अध्यारोप करने से बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। इसका यही तात्पर्य है।

पुनः अपि तत् एव प्रकृतं ब्रह्म आह –

श्रुति पुनः उसी विचाराधीन ब्रह्म के विषय में कहती है –

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ।।
एतद्वै तत् ।।२/१/१२।। (८३)

अन्वयार्थ – **अंगुष्ठ-मात्रः** अंगूठे के परिमाण वाला **पुरुषः** पुरुष **मध्ये आत्मनि** शरीर के भीतर **तिष्ठति** निवास करता है, (वही) **भूत-भव्यस्य** भूतकाल तथा भविष्य का **ईशानः** नियन्ता (स्वामी) है; **ततः** उसे जान लेने के बाद **न विजुगुप्सते** व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये आकुल नहीं होता। **एतद्वै तत्** यही वह ब्रह्म है ।।

भावार्थ – अंगूठे के परिमाण वाला पुरुष शरीर के भीतर निवास करता है, (वही) भूतकाल तथा भविष्य का नियन्ता (स्वामी) है; उसे जान लेने के बाद व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये आकुल नहीं होता। यही वह ब्रह्म है ।।

भाष्यम् – अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठ-परिमाणः । अङ्गुष्ठ-परिमाणं हृदय-पुण्डरीकं तत् छिद्रवर्ति-अन्तःकरण-उपाधिः अङ्गुष्ठमात्रः अङ्गुष्ठमात्र-वंशपर्व-मध्यवर्ति-अम्बरवत् । पुरुषः पूर्णम् अनेन सर्वम् इति । मध्ये आत्मनि शरीरे तिष्ठति यः तं आत्मानम् ईशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न ततः इत्यादि पूर्ववत् ।।१२ (८३)।।

भाष्य-अनुवाद – वह आत्मा अंगूठे के परिमाण का है, हृदय-रूपी कमल अंगूठे के आकार का है। वह छिद्रयुक्त अन्तःकरण उपाधिवाला अंगूठे के आकार का है, अंगूठे के आकार के बाँस के पोर में स्थित आकाश के समान है। पुरुष का अर्थात जिससे सब कुछ पूर्ण (पूरित) है, जो भूत तथा भविष्य के नियन्ता के रूप में शरीर के भीतर निवास करता है, उसे जानकर (व्यक्ति अपनी रक्षा के लिये चिन्तित नहीं होता) इत्यादि पूर्व (२/१/५) के समान।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।।
एतद्वै तत् ।।२/१/१३।। (८४)

अन्वयार्थ – **भूत-भव्यस्य** तीनों कालों का **ईशानः** नियन्ता (वह) **अंगुष्ठ-मात्रः** अँगूठे के परिमाणवाला **पुरुषः** अन्तरात्मा **अधूमकः** धूँए रहित **ज्योतिः इव** ज्योति के समान है, **सः एव** वही **अद्य** आज अर्थात् सभी प्राणियों के लिये

वर्तमान, **सः उ** फिर वही **श्वः** कल अर्थात् भविष्य में भी विद्यमान रहेगा। **एतद्वै तत्** यही वह ब्रह्म है ॥

भावार्थ – तीनों कालों का नियन्ता (वह) अँगूठे के परिमाणवाला अन्तरात्मा धूँए रहित ज्योति के समान है, वही आज अर्थात् सभी प्राणियों के लिये वर्तमान, फिर वही कल अर्थात् भविष्य में भी विद्यमान रहेगा। यही वह ब्रह्म है ॥

भाष्यम् – अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः अधूमकम् इति युक्तं ज्योतिः परत्वात्। यस्तु एवं लक्षितो योगिभिः हृदः ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थः अद्य इदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वः अपि वर्तिष्यते। न अन्यः तत्समः अन्यश्च जनिष्यते इत्यर्थः। अनेन न अयम् अस्ति इति च एकः इति अयं पक्षः न्यायतः अप्राप्तः, अपि स्व-वचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तः तथा क्षणभङ्गवादः च ।।१३ (८४)।।

भाष्य-अनुवाद – वह अँगूठे के परिमाणवाला पुरुष धुँए से रहित ज्योति के समान है। (व्याकरण के अनुसार) अधूमकः की जगह अधूमकम् होना चाहिये, क्योंकि यह नपुंसकलिंगी ज्योतिः शब्द का विशेषण है। इस प्रकार (ज्योतिरूप) जो (तत्त्व) योगियों द्वारा अपने हृदय में अनुभूत होता है और भूत एवं भविष्य का नियन्ता है, वह नित्य कूटस्थ (अपरिवर्तनशील) इस समय समस्त प्राणियों में विद्यमान है और भविष्य में भी विद्यमान रहेगा। तात्पर्य यह कि उसकी बराबरी का न अभी कोई है और न भविष्य में कोई पैदा होगा। (फिर कुछ लोग कहते हैं कि वह मरणोपरान्त नहीं रहता १/१/२०) यह दूसरा पक्ष युक्तिसंगत नहीं है, तथापि श्रुति के अपने शब्दों (स एवाद्य स उ श्वः) के द्वारा उसका और इस प्रकार क्षणिक अस्तित्ववाद का खण्डन किया जाता है।

* * *

पुनः अपि भेद-दर्शन-अपवादं ब्रह्मणः आह –

श्रुति एक बार फिर ब्रह्म में भेददृष्टि का खण्डन करते हुए कहती है –

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ।।
२/१/१४।। (८५)

अन्वयार्थ – **दुर्गे** दुर्गम उच्च भूमि पर **वृष्टम्** वर्षित हुआ **उदकम्** जल, वृष्टिधारा **यथा** जैसे **पर्वतेषु** नीचे के पर्वतों में **विधावति** विखर कर प्रवाहित होती है, **एवम्** उसी प्रकार **धर्मान्** प्राणियों को **पृथक्** हर शरीर में आत्मा से भिन्न **पश्यन्** देखकर **तान् एव** उन्हीं लोगों का **अनुविधावति** अनुगमन करता रहता है, अर्थात् विभिन्न शरीरों में बारम्बार जन्म लेता रहता है ॥

भावार्थ – दुर्गम उच्च भूमि पर वर्षित हुआ जल, वृष्टिधारा जैसे नीचे के पर्वतों में विखर कर प्रवाहित होती है, उसी प्रकार प्राणियों को हर शरीर में आत्मा से भिन्न देखकर उन्हीं लोगों का अनुगमन करता रहता है, अर्थात् विभिन्न शरीरों में बारम्बार जन्म लेता रहता है ॥

भाष्यम् – यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्वतवत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सत्-विनश्यति, एवं धर्मान् आत्मनो भिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथक् एव प्रति-शरीरं पश्यन् तानेव शरीर-भेद-अनुवर्तिनः अनुविधावति। शरीर-भेदम् एव पृथक् पुनः पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।।१४(८५)।।

भाष्य-अनुवाद – जैसे ऊँचे स्थान पर वर्षित हुआ जल पर्वतों से निचले स्थानों की ओर बहता हुआ बिखरकर फैल जाता है, वैसे ही प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा को देखनेवाला व्यक्ति उन्हीं विभिन्न शरीरों का अनुसरण करनेवाले लोगों की ओर ही भागता है। अर्थात् बारम्बार विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है।

* * *

यस्य पुनः विद्यावतः विध्वस्त-उपाधिकृत-भेद-दर्शनस्य विशुद्ध-विज्ञानघन-एकरसम् अद्वयम् आत्मानं पश्यतः विजानतः मुनेः मननशीलस्य आत्म-स्वरूपं कथं सम्भवति इति उच्यते –

जिस ज्ञानी का उपाधियों द्वारा उत्पन्न नानात्व-दर्शन नष्ट हो चुका है, जो अद्वय आत्मा को ही एकरस विशुद्ध चैतन्य-घन के रूप में देखता है, उस मननशील मुनि को आत्म-स्वरूप की कैसे उपलब्धि होती है, अब यही बताते हैं –

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानतः आत्मा भवति गौतम ।।
२/१/१५।। (८६)

अन्वयार्थ – **यथा** जैसे **शुद्धम्** निर्मल **उदकम्** पानी **शुद्धे** निर्मल जल में **आसिक्तम्** डाला जाय, तो **तादृक् एव** वैसा ही **भवति** हो जाता है, **गौतम** हे नचिकेता, **विजानतः** तत्त्वदर्शी **मुनेः** मननशील व्यक्ति की **आत्मा** आत्मा **एवम्** इसी प्रकार एकत्व को प्राप्त **भवति** हो जाता है ॥

भावार्थ – जैसे निर्मल जल को निर्मल जल में डाला जाय, तो वैसा ही हो जाता है, हे नचिकेता, वैसे ही ज्ञानी मननशील व्यक्ति की आत्मा एकत्व को प्राप्त हो जाती है।

भाष्यम् – यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नम् आसिक्तं प्रक्षिप्तम् एकरसम् एव न अन्यथा तादृगेव भवति आत्मा अपि एवम् एव भवति एकत्वं विजानतो मुनेः मननशीलस्य हे गौतम। तस्मात् कुतार्किक-भेददृष्टिं नास्तिक-कुदृष्टिं च उज्झित्वा मातृ-पितृ-सहस्रेभ्यः अपि हितैषिणा वेदेन उपदिष्टम् आत्म-एकत्व-दर्शनं शान्त-दर्पैः आदरणीयम्

इत्यर्थः ।। २/१/१५ (८६) ।।

भाष्य-अनुवाद – जैसे निर्मल जल में निर्मल जल डालने पर वह वैसा ही एकरस रहता है, अन्य प्रकार का नहीं होता, वैसे ही हे गौतम, एकत्व की अनुभूति करनेवाले मननशील (मुनि) के लिये आत्मा भी वैसा ही रहता है। अत: जिनके अहंकार दूर हो गये हैं, उन्हें चाहिये कि वे कुतार्किकों की नानात्व दृष्टि और नास्तिकों की कुदृष्टि को त्यागकर, हजारों माता-पिताओं से भी बढ़कर हितैषी वेद के द्वारा उपदिष्ट आत्मा के एकत्व की अनुभूति के लिये (जी-जान से) प्रयास करें। **❖ (क्रमश:) ❖**

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं
श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि ।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धै-
र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः।।३५६।।

अन्वय – ये स्वं बाह्यं श्रोत्रादि चेतः (च) अहम् – चिदात्मनि प्रविलाप्य समाहिताः ते एव भवपाशबन्धैः मुक्ताः, तु अन्ये परोक्ष्य-कथाभिधायिनः न ।

अर्थ – जो लोग अपने श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों, चित्त (अन्त:करण) तथा अहंकार को चैतन्य-स्वरूप आत्मा में विलीन करके समाधिस्थ रहते हैं; केवल वे ही संसार-बन्धन से मुक्त होते हैं; परन्तु केवल ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते रहनेवाले अन्य लोग (भवबन्धन से) मुक्त नहीं होते।

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते
चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः ।
तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वान्
वसेत्सदाऽकल्पसमाधिनिष्ठया ।।३५७।।

अन्वय – उपाधि-भेदात् स्वयं एव भिद्यते च उपाधि-अपोहे स्वयं एव केवलः । तस्मात् विद्वान् उपाधेः विलयाय अकल्प-समाधि-निष्ठया सदा वसेत् ।

अर्थ – (देह, मन, बुद्धि आदि) उपाधियों के भेद से व्यक्ति का आत्मस्वरूप स्वयं भी अनेक रूपों में विभक्त हो गया है; परन्तु उपाधियों का नाश होने पर वह केवल अखण्ड आत्मस्वरूप रह जाता है। अत: विद्वान् (साधक) को चाहिये कि वह उपाधियों के लय (नाश) हेतु निरन्तर निष्ठापूर्वक निर्विकल्प समाधि में अवस्थान करे।

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ।।३५८।।

अन्वय – सति सक्तः नरः हि एकनिष्ठया सत् भावं याति । यथा कीटकः भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ।

अर्थ – सत्-स्वरूप ब्रह्म में आसक्त मनुष्य, अपनी अनन्य निष्ठा के द्वारा निश्चय ही अपने ब्रह्म-स्वरूप हो प्राप्त हो जाता है, (उसी प्रकार जैसे कि) भ्रमर का ध्यान करता हुआ कीट भ्रमर ही हो जाता है।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ।।३५९।।

अन्वय – कीटकः क्रियान्तर-आसक्तिम् अपास्य अलित्वं ध्यायन् हि अलिभावं ऋच्छति, तथा एव योगी एकनिष्ठया परमात्म-तत्त्वं ध्यात्वा तत् समायाति ।

अर्थ – जैसे कीट अन्य समस्त क्रियाओं (भोजन आदि) से आसक्ति को छोड़कर, निरन्तर भ्रमर का ही चिन्तन करते हुए भ्रमरत्व को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही योगी भी अनन्य निष्ठापूर्वक परमात्म-तत्त्व का ध्यान करके उस ब्रह्मतत्त्व से एक हो जाता है।

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ।।३६०।।

अन्वय – परमात्म-तत्त्वं अतीव सूक्ष्मम्, स्थूल-दृष्ट्या प्रतिपत्तुं न अर्हति। अति-शुद्ध-बुद्धिभिः आर्यैः समाधिना अत्यन्त-सुसूक्ष्म-वृत्त्या ज्ञातव्यं ।

अर्थ – यह परमात्म-तत्त्व अति सूक्ष्म है, स्थूल दृष्टि के द्वारा इसकी अनुभूति नहीं हो सकती। यह अतीव शुद्ध बुद्धि वाले उत्तम व्यक्तियों के द्वारा, समाधि अर्थात् एकाग्र चित्त की सहायता से परम सूक्ष्म वृत्ति के द्वारा ही जाना जा सकता है।

यथा सुवर्णं पटुपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ।।३६१।।

अन्वय – यथा सुवर्णम् पटु-पाक-शोधितम्, मलं त्यक्त्वा स्वात्म-गुणं सम्-ऋच्छति, तथा ध्यानेन मनः सत्त्व-रजस्-तमो-मलं सन्त्यज्य तत्त्वम् समेति ।

अर्थ – जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि तथा क्षार की सहायता से शोधित होने पर, अपने सारे मल को त्यागकर अपने विशुद्ध तेजस्विता आदि गुणों को प्राप्त होता है, वैसे ही ध्यान के द्वारा (साधक का) मन अपनी सत्त्व, रजस् तथा तमोगुण रूपी मलिनता को त्यागकर अपने तत्त्व (परब्रह्म रूपी स्वरूप) को प्राप्त कर लेता है।

❖ (क्रमश:) ❖

प्रेरक कथाएँ

मौत जब तक नजर नहीं आती

एक सेठजी बड़ी जिद्दी और बद-परेहज थे। भरी जवानी में ही उसे असाध्य खाँसी के रोग ने पीड़ित कर रखा था। खाँसी के लिए दही अच्छा नहीं होता, लेकिन सेठजी बिना दही के भोजन करते ही नहीं थे। इससे खाँसी बढ़ती ही जाती थी। सेठजी बड़े धनवान थे, अत: शहर के अच्छे-अच्छे डॉक्टर-वैद्य, हकीम – सबको दिखाया गया, परन्तु उनकी खाँसी ठीक नहीं हुई।

अन्त में वे एक बड़े ही बुद्धिमान वैद्य के पल्ले पड़े। सेठजी इलाज के लिये राजी तो हुए, परन्तु पहले ही बोल दिया – "वैद्यजी ! मेरी एक बात सुन लो; और चाहे जो भी छुड़ा लो, पर मैं दही खाना नहीं छोड़ सकता।" वैद्यजी बोले – "आपको दही छोड़ने को कौन कहता है ! आप यदि एक समय दही खाते हों, तो दोनों समय खाना शुरू कर दीजिए। और यदि दोनों समय दही खाते हो, तो दिन में चार बार दही खाना शुरू कर दीजिए।"

सेठजी बड़े खुश हुए कि चलो, यह वैद्य तो बहुत अच्छा है। इस उदारता का कारण पूछने पर वैद्यजी ने बताया – "दही खाने के तीन लाभ हैं।" सेठजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा – "कौन-कौन से लाभ हैं?" वैद्यजी बोले – "सर्वप्रथम तो घर में चोरी नहीं होती; दूसरे कुत्ता भी नहीं काटता और तीसरा – दही खाने वाले को कभी बुढ़ापा नहीं आता।" सेठजी ने सारी बातों को बड़े ध्यान से सुना, परन्तु उनको इन बातों का तात्पर्य समझ में नहीं आया। हारकर उन्होंने वैद्यजी से पूछा – "वैद्यजी, बात ठीक से मेरी समझ में नहीं आई।"

वैद्यजी बोले – "देखो सेठजी ! दही खाते रहने से खाँसी ठीक नहीं होती, जिसके फलस्वरूप आदमी दिन-रात खाँसता ही रहता है। यदि कोई रात भर खाँसता ही रहे, तो चोर भला उसके यहाँ चोरी करने कैसे घुस सकता है?" वैद्यजी आगे बोले – "दूसरी बात सीधी-सादी है। जबसे आपको खाँसी हुई है, तबसे आप बड़े दुर्बल हो गए हैं और इस कारण आपको हमेशा लाठी लेकर चलना पड़ता है। आप जहाँ जाते हैं, साथ में लाठी रहती है। कुत्ता लाठी देखकर – काटने की बात तो दूर, आपके पास भी नहीं फटेकगा।" दूसरी बात सुनकर सेठजी गम्भीर हो गए। बड़ी चिन्ता और बेचैनी के साथ उन्होंने पूछा – "और तीसरी बात क्या है?"

"तीसरी बात तो ऐसी ही है सेठजी, आप तो जानते ही हैं कि कमजोर आदमी भला कितने दिन जी सकता है ! खाँसी में दही खानेवाला मरीज तो जवानी भी पूरी तरह नहीं काट सकता, इसलिए बुढ़ापा उसके पास भला कैसे फटकेगा?" वैद्यजी बात समाप्त करके चुप हो गए।

उस दिन के बाद सेठजी ने दही खाने का नाम तक नहीं लिया। दही में उनकी अपनी मौत दिखाई देती थी। सेठजी ने दही छोड़ा, तो खाँसी ने भी शीघ्र उनका साथ छोड़ दिया।

अन्त भला, तो सब भला

एक राजा वन में भ्रमण को गया। रास्ता भूल जाने पर भूख-प्यास से पीड़ित वह एक वनवासी की झोपड़ी में जा पहुँचा। वनवासी के पास उस समय जो रूखा-सूखा था, उसी से उसने राजा का सम्मान किया। सुबह विदा लेते समय राजा ने वनवासी से कहा, "हम इस राज्य के शासक है। तुम्हारे आतिथ्य से प्रसन्न होकर हम तुम्हें चन्दन का एक बाग उपहार देते हैं। तुम्हारा शेष जीवन आनन्द से बीतेगा।"

वनवासी को चन्दन का बाग तो मिल गया, पर उसे चन्दन के महत्त्व की जानकारी न होने से, वह चन्दन के वृक्ष काटकर उसका कोयला बनाकर नगर में बेचता रहा। इस प्रकार उसके गुजारे की व्यवस्था तो हो गयी, पर धीरे-धीरे सभी वृक्ष समाप्त होने लगे। एक अन्तिम पेड़ बचा। वर्षा के कारण कोयला नहीं बन सकता था, अत: उसने लकड़ी ही बेचने का निश्चय किया। लकड़ी लेकर जब वह बाजार में गया, तो सुगन्ध से प्रभावित लोगों ने उसका भारी मूल्य चुकाया। आश्चर्यचकित वनवासी ने इसका कारण पूछा, तो लोग बोले – यह चन्दन की लकड़ी है, बड़ी मूल्यवान है। तुम चाहो, तो इसका काफी मूल्य प्राप्त कर सकते हो।

वनवासी अपनी नासमझी पर पछताने लगा। उस पछताते हुए नासमझ को सान्त्वना देते हुए एक विचारशील व्यक्ति ने कहा, "मित्र, पछताओ मत। यही सारी दुनिया तुम्हारी ही तरह नासमझ है। जीवन का एक-एक क्षण बहुमूल्य है, पर लोग इसे वासनाओं और तृष्णाओं के चक्कर में कौड़ियों के मोल गँवाते हैं। तुम्हारे पास एक वृक्ष बचा है, उसी का सदुपयोग कर लो, तो बहुत होगा। सुबह का भूला अगर शाम तक घर लौट आये, तो भी उसे भूला नहीं करते। बहुत गँवा कर भी, यदि व्यक्ति आखिरकार सँभल जाये, तो उसे बुद्धिमान ही माना जाता है। ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवा आश्रम, अम्बिकापुर (छत्तीसगढ़) में रामकृष्ण मंदिर का उद्घाटन –

६ मई रविवार,२०१२ बुद्ध पूर्णिमा को प्रात: ८.३० बजे आश्रम प्रांगण में नव-निर्मित श्रीरामकृष्णदेव के मंदिर की प्रतिष्ठा रामकृष्ण मठ, चेन्नई के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज के कर-कमलों से सम्पन्न हुयी। इस उपलक्ष्य में ५ मई को वास्तु पूजा हुई। ५,६ और ७ मई को सायंकालीन सार्वजनिक व्याख्यान हुये, जिसमें रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासीगण – स्वामी गौतमानन्द जी, स्वामी सत्यरूपानन्द जी, स्वामी निखिलात्मानन्द जी, स्वामी राघवेन्द्रानन्द जी और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जीवन-दर्शन पर व्याख्यान दिये। आगत अतिथियों का स्वागत आश्रम के सचिव स्वामी तन्मयानन्द जी और अध्यक्ष श्रीकृष्ण तायल जी ने किया तथा सभा का संचालन श्रीकान्त दूबे जी ने किया। आश्रम में दो दिन ७ मई को ५४ भक्तों की और ८ मई को ५४, कुल १०८ भक्तों को नये मंदिर में पूज्यपाद स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने दीक्षा प्रदान की। अपने आशीर्वचन में स्वामी गौतमानन्द जी ने कहा – ''विजयबाड़ा में ठाकुर के मंदिर में आकर एक सिनेमा देखनेवाले का मन परिवर्तन हो गया और बाद में वह सदा के लिये एक अच्छा आदमी बन गया। यह महिमा है श्री ठाकुर के दर्शन का। स्वामी विवेकानन्द शब्द और आध्यात्मिक शक्ति देते थे, जिससे जीवन परिवर्तित हो जाता था। उनका व्याख्यान सुनकर लोग अपने आप को भूल जाते थे। महापुरुष लोग भौतिक और आध्यात्मिक दोनों के विकास में सहायता करते हैं। वे हमेशा मुक्तहस्त हो आशीर्वाद का वर्षण करते रहते हैं।'' विभिन्न आश्रमों से आये कुल १७ संन्यासियों और लगभग २५० भक्तों ने इस समारोह में भाग लिया। ६ मई को शहर में एक भव्य शोभायात्रा भी निकाली गयी थी। कुल मिलाकर परिवेश बड़ा अच्छा रहा। सभी लोगों को बहुत आनन्द मिला। मंदिर में ठाकुर की प्रतिष्ठा हो जाने से आश्रम का वातावरण भी आध्यात्मिक एवं आनन्दमय लग रहा था। वहाँ के भक्तों एवं नागरिकों में अद्भुत आनन्द एवं उत्साह झलक रही थी।

भिलाई में आध्यात्मिक शिविर का आयोजन

२० अगस्त, २०१२ को भिलाई के रामकृष्ण सेवा समिति में आध्यात्मिक शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ११५ भक्तों ने भाग लिया। शिविर का संचालन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया। रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने आध्यात्मिक प्रवचन दिया। जबलपुर स्वामी स्वात्मानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का पाठ किया और भक्ति-संगीत प्रस्तुत किया। शिविर-संयोजन आश्रम के अध्यक्ष श्री हिमाचल मढ़रिया जी ने सबकी अच्छी व्यवस्था की। उनके कुशल संचालन के कारण ही बरसात में भी पर्याप्त संख्या में लोगों ने आकर शिविर का लाभ उठाया।

ग्रन्थालय और औषधालय का उद्घाटन

विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली में १५ अगस्त, २०१२ को विवेकानन्द ग्रन्थालय एवं औषधालय का उद्घाटन नये भवन में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्दजी ने किया। कार्यक्रम में रायपुर आश्रम के बहुत से संत विद्यमान थे। पूजा-हवन और श्रीरामनाम संकीर्तन में बहुत से ग्रामीण भी उपस्थित थे। गदाधर प्रकल्प के छात्र-छात्राओं ने सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये।

गौहाटी में चिकित्सा शिविर

रामकृष्ण मिशन, गौहाटी (असम) ने २२ से २४ जून तक कामाख्या मंदिर के पास अम्बुवाची मेले में नि:शुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन किया। शिविर में २२३३ रोगियों का इलाज किया गया।

पोरबन्दर में छात्र-शिविर

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, पोरबन्दर ने बच्चों के लिये १ मई से २ जून तक ग्रीष्म शिविर का आयोजन किया, जिसमें चौथी से लेकर सातवीं तक के १६५ बच्चों ने भाग लिया।

राहत कार्य

पूना आश्रम, मालदा आश्रम, बांगलादेश का दिनाजपुर आश्रम, फिजी स्थित आश्रम, ईटानगर आश्रम और मदुरई आश्रम ने विभिन्न प्रकार के राहत कार्य किये।

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २०१२ ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

सांसारिक जीवन की उपबब्धियाँ निरर्थक हैं

जिसकी जैसी भावना होगी, उसे वैसा ही लाभ होगा। भगवान मानो कल्पवृक्ष हैं। उनसे जो कोई, जो कुछ माँगता है, वह उसे मिल जाता है। गरीब का लड़का कड़ी मेहनत से पढ़-लिखकर हाईकोर्ट का जज बन जाता है और मन ही मन सोचता है, "अब मैं मजे में हूँ। मैं उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आ पहुँचा हूँ। अब मुझे बड़ा आनन्द है।" भगवान भी कहते हैं, "तुम मजे में ही रहो।" किन्तु जब वह हाईकोर्ट से सेवानिवृत्त होकर पेंशन लेते हुए अपने विगत जीवन की ओर देखता है, तो उसे लगता है कि उसने अपना सारा जीवन निरर्थक बिता दिया। तब वह कहता है, "हाय, इस जीवन में मैंने कौन-सा उल्लेखनीय काम किया?" भगवान भी कहते हैं, "ठीक कहते हो, तुमने किया ही क्या!" **– *श्रीरामकृष्ण***